हंसगीत



ಹಂಸಗೀತೆ

कन्नड़ के श्रेष्ठ उपन्यास 'हंसगीते' का हिन्दी अनुवाद

हंस गीत

लेखकः—त० रा० सुब्बराव

अनुवादकः— प्रताप 'सुधाकर'

अर्चना प्रकाशन मन्दिर बेंगलोर—२

पहला हिन्दी संस्करण ......अक्तूबर १९५८

मूल्यः– पाँच रुपये

प्रकाशक सोहनलाल सिसोदिया अर्चना प्रकाशन मन्दिर बैंगलोर–२
मुद्रक सीताराम आल्वा साधना प्रेस बैंगलोर–९

विश्वविख्यात संगीतज्ञ

श्री पॉल राब्सन

को

हंसगीत

सादर समर्पित

—प्रकाशक

प्रकाशकीय

साहित्य के क्षेत्र में भौगोलिक सीमाएँ कभी की हवा हो चुकी हैं, विश्व के सभी भागों के साथ साहित्यिक आदान-प्रदान की भावना तीव्र गति से बढ़ रही है और इस दिशा में आज बहुत कुछ हो भी रहा है। यह सचमुच ही गर्व की बात है। लेकिन अपने ही देश में अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक आदान-प्रदान की ओर हमारा कितना ध्यान गया है—यह प्रश्न आज भी पूछा जा सकता है। ख़ास तौर से राष्ट्रीय स्वतंत्रता के बाद इस दिशा में जितना काम होना चाहिए था, वह कहाँ हुआ?

हमारी यह स्पष्ट मान्यता है कि राष्ट्रीय और सांस्कृतिक एकता के लिए यह कार्य सर्वोपरि महत्त्व रखता है। अतः हमने भी यह दुस्साहस किया है कि हम अपने ही घर में पड़ी हुई साहित्यिक निधि की ओर देश का ध्यान खींचें। इसे दुस्साहस इसलिए कहा गया है कि वर्तमान परिस्थिति में साहित्य प्रकाशन का कार्य एक प्रकार से दुस्साहस ही है। यह बात देशी भाषाओं के साहित्य के बारे में और भी सत्य है। जब तक कोई विदेशी हमारी कृति की क़द्र न करे, तब तक हम न तो उसका यथार्थ मूल्यांकन करते हैं और न उसकी ओर आँख उठाकर देखते ही हैं—यह तथ्य आज भी कमोबेश बना हुआ है।

अवश्य ही प्रकाशन का कार्य आज एक व्यवसाय बना हुआ है और हम भी इस ढर्रे से मुक्त नहीं हैं। फिर भी इससे साहित्य की कुछ न कुछ सेवा हो सकेगी—ऐसी हमारी धारणा है।

कन्नड़ भाषा का अस्तित्व अति प्राचीन है । दक्षिण की भाषाओं में तमिल के बाद इसीका नाम सामने आता है और इसके साहित्य में भी अनमोल रत्न भरे पड़े हैं । यह दो करोड़ व्यक्तियों की संस्कृति की आधार शिला है । प्रत्येक भाषा की तरह इसकी भी प्रकृति, व्याकरण, मुहावरे, कहावतें, शब्दों में अर्थ-वैशिष्ट्य और व्यंजना-शक्ति का स्वतंत्र इतिहास है । सौन्दर्य और माधुर्य की दृष्टि से यह किसी भी भाषा से कम नहीं है । साथ-साथ इस पर संस्कृत का गहरा प्रभाव भी है और इसलिए यह हिन्दी के काफ़ी निकट है ।

यद्यपि यह समुद्र में बूँद के समान ही होगा फिर भी हमारा नगण्य प्रयत्न यह है कि कन्नड़ से हिन्दी और हिन्दी से कन्नड़ साहित्य की श्रीवृद्धि की जाय । 'हंसगीत' इसी भावना का परिणाम है । यह हमारी ओर से प्रथम भेंट है ।

'हंसगीत' कन्नड़ के चोटी के साहित्यकार श्री त. रा. सु. का श्रेष्ठ उपन्यास है । 'बसंत बहार' नामक फ़िल्म इसी के आधार पर निर्मित हुई है और इसकी मूल कृति मैसूर यूनिवर्सिटी की बी. ए. कक्षा में प्रचलित भी है ।

आज हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर आसीन है । हमारी यह मान्यता है कि राष्ट्रभाषा के भंडार में उन सभी भाषाओं का श्रेष्ठ साहित्य होना चाहिए जो भिन्न-भिन्न प्रान्तों में करोड़ों लोगों की सांस्कृतिक घुट्टी है । राष्ट्रभाषा का गौरव तभी बढ़ सकता है जब उसके स्वरूप में समस्त प्रान्तीय भाषाएँ और उनका साहित्य प्रकट हो । इस दृष्टि से कन्नड़ भाषा का महत्वपूर्ण योग होगा ।

यहाँ हमारी कठिनाइयों का भी थोड़ा ज़िक्र कर देना अनुचित नहीं होगा । हिन्दी की छपाई के लिए अच्छे प्रेस का अभाव सबसे बड़ी बाधा थी । परिणाम स्वरूप हमें कुछ छपे हुए फ़ार्म रद कर देने पड़े । यह समस्या तभी हल हुई, जब हमने ही अपने काम के लिए

टाइप ख़रीदे । लेकिन तब भी हमारी कठिनाइयाँ बनी ही रहीं। फ़ाउंड्रीवालों की कृपा से बहुत से अक्षरों के टाइप नहीं मिले और जो टाइप मिले उनमें दूषित टाइपों की भरमार रही, जिन्हें निकालते-निकालते हम थक गये । शुरू में कृष्णकान्त जी का सहयोग रहा जो हिन्दी के अनुभवी कम्पोज़िटर थे । किन्तु उनकी एकाएक मृत्यु हो जाने से काम फिर ठप हो गया । यदि यह काम साधना प्रेस के मालिक सीताराम जी जैसे परिश्रमी और समय पर काम करनेवाले के हाथों में नहीं होता तो संभव था कि हमें कहीं बाहर जाना पड़ता । काग़ज़ प्राप्त करने में भी कभी मद्रास और कभी बम्बई का मुँह देखना पड़ा । कुछ समय पहले २० रुपये रीम का भाव था, वही बढ़कर ३०–३२ तक हो गया । इस पर भी मुश्किल से कुछ ही रीम प्राप्त कर सकते थे ।

अपनी त्रुटियों के बारे में भी यह कहना आवश्यक है कि छपाई आदि में जो ग़लतियाँ रह गई हैं, वे अगले संस्करण में अवश्य ही दूर कर दी जायँगी । इस विषय में पाठक एवं आलोचक महानुभावों की सूचनाओं का हम स्वागत करेंगे ।

'हंसगीत' मूल कन्नड़ का अविकल अनुवाद है । इसकी प्रेस कॉपी तैयार कराने, प्रूफ़ देखने और छपाई सम्बन्धी उचित प्रबन्ध करने से लेकर भाषा-परिष्कार आदि सम्पादन का पूरा-पूरा भार अकेले श्री ए० बी० स्वामी पर आ पड़ा । वे जी जान से इसमें जुट गये और दिन-रात लगकर उन्होंने इसे पूरा किया । हम श्री विराज के भी बड़े आभारी हैं, जिन्होंने मूल कृति से अनुवाद का मिलान करने और प्रति दिन सहयोग देने की कृपा की । श्री एम० एस० श्रीकण्ठय्या के भी हम बड़े आभारी हैं, जिन्होंने इस उपन्यास के परिचय के सिलसिले में विशेष रूप से लिखने की कृपा की । पं० श्री सुधाकर जी 'आर्यसेवक' और श्री नेमिचन्द्र जैन 'भावुक' को हमने अनेक बार कष्ट दिये हैं । उनके उदारता पूर्वक सहयोग

के लिए भी हम बड़े आभारी हैं। सर्व श्री प्रताप 'सुधाकर', मुद्रक सीतारामजी, चित्रकार ए० लिंगेशन, मुरलीमनोहर 'निर्भय' एवं मदनलाल शर्मा के प्रति भी हम इतने ही आभारी हैं।

यदि जनता ने इस उपन्यास को अपनाया तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे और भविष्य में अधिक उत्साह से आगे बढ़ सकेंगे।

२ अक्तूबर १९५८ —प्रकाशक
गांधी जयन्ती

"......मैं चाहता हूँ कि हमारे देश के लोग, अपने देश के लोगों को पहचानना सीखें। अपनी चीज़ को नीची निगाह से देखना ठीक नहीं है। जब दूसरे लोग तारीफ़ करते हैं, तब बाद में तारीफ़ करना ठीक नहीं है। हम लोग अपने देश की कला, साहित्य और विचारों को अच्छी तरह समझें और उनसे लाभ उठाएँ"

राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद

हंस गीत

…एक

चित्रदुर्ग में, अगर चौबीसों घण्टे चलनेवाली कोई संस्था है, तो वह है हमारी महफ़िल। आनेवाले आते रहते हैं और जानेवाले जाते; लेकिन हमारा ताश खेलना, टेनिसन कवि की अखंड काव्य–धारा की भाँति हमेशा चालू रहता है। ताश, वहाँ कुछ लोगों के लिए मन बहलाव की चीज़ है तो कुछ लोगों के लिए आजीविका का साधन भी। कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनके लिए वह सिर्फ़ एक शौक़ ही है। हार–जीत उनकी नज़रों में कोई चीज़ नहीं, दो-चार आने कमाने की नीयत से अपने ईमान में कभी फ़र्क़ नहीं आने देते। भले ही हार जायँ मगर खेल नहीं बिगाड़ते। इन्हें उस श्रेणी के लोगों से बड़ी घृणा है, जो सिर्फ़ पैसा बटोरने के इरादे से ही आते हैं। ये लोग कमाई की दृष्टि रखनेवालों के साथ खेलने नहीं बैठते। जब तक अपनी रुचि के लोग न आजायँ तब तक उनकी बाट जोहते रहते हैं। अगर उनमें से कोई नहीं आया, तो दूसरों को खेल के दाव–पेंच

बतलाने बैठ जाते हैं या फिर किसी तरह समय बिताकर चलते बनते हैं। हमारी गोष्ठी में मिलनेवाले ये दो श्रेणी के लोग हैं। पर एक तीसरी श्रेणी के लोग भी हैं जिन्हें न तो खेल का ही ज्ञान है और न खेलने की जिज्ञासा ही। वे चुपचाप बैठे खिलाड़ियों की बात-चीत सुनते हुए उनमें उठनेवाले ईर्ष्या, क्रोध, स्पर्धा और आशा-निराशा के द्वन्द्वों को देखते रहते हैं और जब जी ऊब जाता है या थक जाते हैं तब अपने-अपने घर की राह ले लेते हैं। मैं भी इसी वर्ग का हूँ।

ताश के खेल में फूल किसे कहते हैं या नहला क्या है — यह मैं कुछ नहीं जानता। फिर भी रोज़ वहाँ जाकर हाज़िरी देने से नहीं चूकता। उसका एकमात्र कारण या आकर्षण वकील राघवेन्द्र रावजी हैं। वे कचहरी में उपस्थित रहने की इतनी परवाह नहीं करते थे जितनी महफ़िल में उपस्थित रहने की। ताश, उनके लिए मनोरंजन का साधन मात्र न हो कर जीवन की आवश्यकताओं के साथ मिल गई थी। वे और कहीं मिलें या न मिलें, मगर महफ़िल में ज़रूर मिल जाते — इस बात को सब जानते थे। कई बार तो ऐसा भी होता कि मुवक्किल उन्हें ढूँढते-ढूँढते यहाँ तक आ जाते और भेंट-पूजा चढ़ा जाते। मैं भी उन्हें बाहर कहीं नहीं पाता तो सीधा महफ़िल में चला जाता।

चित्रदुर्ग का गर्वोन्नत पहाड़, उस पर बना हुआ क़िला, बुर्ज़े, मन्दिर और जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े उपेक्षित शिलालेख — हम दोनों के आकर्षण-केंद्र थे; और इन्हीं वस्तुओं ने हम दोनों को एक दूसरे के निकट ला दिया था।

उन्हें तारा से जितना लगाव था उतना ही दुर्ग के इतिहास से भी। उनके पंच–प्राण उसी इतिहास में बसे थे। चित्रदुर्ग के उस जीर्ण–शीर्ण क़िले में ऐसी एक भी शिला नहीं थी जो उनके कर–स्पर्श से पुलकित न हो उठी हो। दूसरों के लिए वे भले ही निर्जीव हों, मूक हों, पर वे वकील साहब को ठंडी आहें भरकर अपनी करुण-कथा कह सुनातीं। कोई कहती—"भैया, मैं भीम–हिडिंबासुर के घोर युद्ध की रण-स्थली हूँ। पर देखो, मेरी आज क्या दुर्दशा है...!" तो दूसरी आँखों में आँसू भरकर कहने लगती—"बाबूजी, वह भी एक ज़माना था जब कि नग्न खड्गधारी भरमण्ण नायक मुझ से सान का काम लेते थे और आज........ मैं लकड़हारों की कुल्हाड़ियाँ घिसने के काम आ रही हूँ!"

वकील साहब उन करुण कथाओं को सुनते और घण्टों तक आँसू बहाते रहते। उनकी दृष्टि में क़िले का एक-एक पत्थर अतीत के गौरवशाली इतिहास का एक–एक अध्याय है। यदि वे न होते तो कितने ही शिलालेख गाँव में मकानों की नींव के पत्थर बनकर गलते रहते। यह उन्हीं की कृपा है कि आज वे खुली हवा में साँस ले रहे हैं। दुर्ग और उसके आस–पास, ऐसी चप्पा भर ज़मीन भी नहीं है, जिसे उन्होंने जाँचा–परखा न हो। अगर उन्हें यह ख़बर मिल जाती कि अमुक जगह अमुक शिलालेख या कोई प्रस्तरमूर्ति निकली है तो वे उसे देखने पहुँच जाते। फिर भले ही कड़कड़ाती धूप हो या मूसलाधार वर्षा, वे अपने भारी-भरकम शरीर को घसीटते हुए, हाँफते–काँपते चल ही देते। पाँच–दस मील पैदल जाना पड़ता तो भी इसकी चिंता नहीं करते। ऐसा ही उत्साह दुर्ग की कहानी

सुनाने और वहाँ के ऐतिहासिक स्थल दिखाने में भी प्रकट करते। आधीरात में भी, वे पहाड़ की चोटी पर चढ़ने के लिए कटिबद्ध रहते।

उन्होंने इसी उत्साह के बल पर घूम-फिर कर, लोगों से लड़-झगड़ कर, मिन्नत-चिरौरी कर, दुर्ग-संबन्धी ऐतिहासिक ताड़पत्र, शिला-लेख, पुराने सिक्के आदि वस्तुओं का संग्रह किया है। नायक-जाति के वंशजों से मिलकर उस समय के कुछ शस्त्रास्त्र, जैसे ढाल-तलवार, कवच और एक-दो तैलचित्र वग़ैरह भी जुटा रखे हैं। उनके इस सतत प्रयत्न के फलस्वरूप, आज उनका मकान प्राचीन वस्तुओं का एक छोटा-सा संग्रहालय बन गया है।

वकील साहब का यह इतिहास संबन्धी प्रेम संक्रामक-सा होगया है और वे अपने परिचितों में भी इन्हीं भावों को भरते रहते हैं। यदि कोई गायक हो तो उससे चित्रदुर्ग के नायकों पर रची हुई लावनियाँ गवाते हैं, चित्रकारों से क़िले के चित्र बनवाते हैं और किसी में जब कहानी लिखने की क्षमता देखते हैं तो उससे ऐतिहासिक कहानियाँ लिखवाते हैं। यदि कोई इस योग्य न निकला तो उससे पुराने साहित्य की प्रतिलिपियाँ बनवाते हैं। मतलब यह कि वे किसीको नहीं छोड़ते। प्रत्येक से उसकी योग्यतानुसार कोई न कोई काम ज़रूर ले लेते हैं। समूचे दुर्ग में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिलेगा जो उनकी सरलता और सहज आत्मीयता पर मुग्ध न हो।

शुरू-शुरू में उनका इतिहास-प्रेम और अभिमान देखकर गाँव में हँसी उड़ानेवालों की भी कमी न थी। लेकिन धीरे-धीरे उन लोगों की दशा बहुत-कुछ वैसी ही हो गई जैसी कि अंग्रेज़ कवि गोल्डस्मिथ की

'उजड्ड गाँव' वाली कविता में वर्णित लोगों की मिलती है। पहले वे पादरी का मज़ाक उड़ाते रहे पर बाद में वे ही उनके भक्त बन गये।

वकील साहब का व्यक्तित्व ऐसा था कि एक बार जो भी उनके संपर्क में आता वह उन्हींका हो जाता। स्थूल देह, उस पर लंबी-काली अचकन, हाथ में डण्डा और नाक पर चाँदी की फ्रेम का चश्मा — यह विलक्षण रूप, उनका नाम याद आते ही आँखों के सामने नाच उठता है। चित्रदुर्गवालों के लिए वे क़िले के बुर्ज़ और कीर्तिस्तंभ की भाँति ही सुपरिचित और आदरणीय थे।

वकील साहब स्वभाव के ज़रा चिड़चिड़े थे। तीखी ज़बान और त्योरी-चढ़ा चेहरा — यह उनको भगवान का दिया वरदान है। किसी का व्यवहार तनिक अखरा नहीं कि तुरंत कोई चुभनेवाली बात कही नहीं। लेकिन दूसरे ही क्षण उसे फिर स्नेह से वश में कर लेते। जिन लोगों का दिल, उनके निर्मम व्यवहार से खट्टा होजाता, वे दूसरे ही दिन उनको खोजते हुए जा पहुँचते। जो लोग उनके इस स्वभाव से परिचित होते, वे कभी नाराज़ होने का कष्ट ही नहीं करते। मुझे भी इसका अनुभव तब हुआ जब हमारा परिचय स्नेह के रूप में परिणित हो गया।

हमारी घनिष्टता का मूल कारण, मेरा, उनके प्रियमित्र का पुत्र होना था। इसी भित्ति पर स्नेह की आधार शिला रखी गई थी। यही कारण था कि परिचय ने तुरंत आत्मीयता का रूप धारण कर लिया। इसी लिए वे जब-तब मुझे चित्रदुर्ग का इतिहास सुनाने बैठ जाते। मैं पहले ही बता चुका हूँ कि उनका उत्साह एक प्रकार से

अदम्य था। फिर मैं उस प्रभाव से कैसे बच सकता था? ज्यों-ज्यों मेरी उम्र बढ़ती गई त्यों-त्यों उनका स्नेह भी बढ़ता गया। और जब उन्हें विश्वास हो गया कि मुझ में कहानी लिखने की क्षमता भी है तब तो कहना ही क्या था! वे प्रसन्न हो उठे। अब वे स्नेह के बदले अभिमान करने लगे। इसी कारण वे कभी-कभी टोक भी देते—"क्या लकीर के फ़कीर बने हुए हो! जब देखो तब दादी-अम्माँ की कहानियाँ लिये बैठे रहते हो। लिखना ही है तो चित्र-दुर्ग के इतिहास पर कोई उपन्यास क्यों नहीं लिखते? मैं जानता हूँ, तुम बड़े आलसी हो। कुछ भी तो नहीं करते।"

मैं कभी कोई क़िस्सा-कहानी लेकर उनके पास पहुँच जाता। बड़ों से दाद पाने की इच्छा किसे नहीं होती? वे उसे सरसरी निगाह से देखकर कह डालते—"किस मतलब की है यह चीज़! बेकार-सी। अच्छा हो कि इसे पहाड़ की चोटी पर से उड़ा दो। आया समझ में?"

उनकी ऐसी बातों से मेरे उत्साह पर घड़ों पानी पड़ जाता। लेकिन मेरी रचनाओं को वे पढ़ते ज़रूर थे। मन ही मन प्रसन्न भी होते—यह मैं जानता हूँ। लेकिन ऊपर से उनको नाराज़-सा देखकर मैं भी नाराज़गी दिखाता हुआ घर चला आता।

मैंने चित्रदुर्ग के इतिहास के सम्बन्ध में तब तक कुछ न लिख-कर, उनकी आकांक्षा पूर्ण करने का प्रयास नहीं किया था। फिर भी उन्हें विश्वास रहा होगा कि अभी बच्चा है, आज नहीं तो कल, कभी ज़रूर लिखेगा। इसी लिए जब मैं असंतुष्ट होकर उनके पास से चला आता तो वे दूसरे ही दिन स्वयं मेरे घर आजाते और मुझे

नारायणप्पा के होटल में ले जाकर मसाले-दोसे खिलाते। मैं उसके स्वाद में पिछली कड़वाहट को भूल जाता। यह ठीक है कि मैंने अब तक चित्रदुर्ग के बारे में कोई ऐतिहासिक चीज़ नहीं लिखी। किन्तु उसके प्रति मेरे मन में असीम अनुराग था, गौरव था। इतिहास की रोचक कथाएँ सुनने, मैं मुँह-माँगी क़ीमत चुकाने के लिए तैयार रहता। अब आप समझ गये होंगे कि मैं रोज़ उनकी तलाश में क्लब क्यों जाया करता था ?

उस दिन मैं दिन भर कुछ कामों में उलझा रहा। इसलिए काफ़ी देर से क्लब में गया। साधारणतया मेरे पहुँच जाने के पाँच-दस मिनट बाद ही वकील साहब गरदन उठाकर मेरी तरफ़ देखते और कहते—"ओ ! तो तुम आगये ! ठहरो, मैं अभी यह बाज़ी ख़तम किये देता हूँ, फिर बातें होंगी।" पर वे जैसा कहते वैसा करते नहीं थे। खेल से निपटने के बजाय उसमें और खो जाते। लेकिन उस दिन बात कुछ और ही हुई। वे शायद मेरी राह देखते बैठे थे। मुझे देखते ही बोले—"क्यों साहित्यकार जी, अब फ़ुर्सत मिली आपको ?"

उनका लहज़ा देखकर मुझे यह समझ ने में देर नहीं लगी कि ज़रूर आज कोई नई बात है।

मैंने उत्तर में कहा—"जी, ज़रा घर के कामों में लग गया था। देर होगई।"

"कमाल है भाई, तुम घर के कामों में भी हाथ बटा लिया करते हो ? मैंने तो समझ रखा था कि तुम लिखने-पढ़ने में सब कुछ भूल जाते हो, न दीन की ख़बर रहती न

दुनिया की। ख़ैर, अब तो छुट्टी मिली न ?" उन्होंने अचम्भे में आकर पूछा।

"जी, क्या कोई ख़ास काम है, रायजी ?"

"हाँ, चलो अपने घर चलें।"

"आख़िर बात क्या है ?"

"यह कुछ न पूछो। एक नई चीज़ हाथ लगी है। घर चल कर बतलाऊँगा।" कहकर तुरंत अपना डंडा सँभाला और चल पड़े। मुझे चूँ करने का भी मौक़ा नहीं दिया।

रास्ते में मैंने बात निकलवाने की कोशिश की—लेकिन बेकार। वे चुप्पी साधे क़दम बढ़ा रहे थे। उनकी चाल में इतना उत्साह भरा था कि उसे देखकर मुझे पहली बार ससुराल जानेवाले दामाद की याद आगई। संभव है उन्हें मेरा प्रश्न न सुनाई पड़ा हो। या सुना भी हो तो उत्तर देने का ध्यान न रहा हो। वे कुछ सोचते-गुनगुनाते चुपचाप चले जा रहे थे। अब और कुछ प्रश्न करना व्यर्थ जान कर मैं भी चुपचाप उनके पीछे चलता रहा। अपने अनुभव ने भी यही ठीक समझा।

...दो

हम दोनों घर पहुँचे। मुझे बैठने का इशारा तक न कर, वे सीधे एक मेज़ के पास गये। उसमें से बादामी रंग का एक लिफ़ाफ़ा निकाला, जिसमें अक्सर वे अदालती काग़ज़ात रखा करते थे, फिर मेरे सामने बढ़ाते हुए बोले—"ज़रा इसे पढ़ो।"

मैंने लिफ़ाफ़ा खोला। देखा तो उसमें एक पुराना पत्रक रखा हुआ था।

मैं उसे बाहर निकालने लगा पर उन्होंने बीच में ही चौंक कर कहा—"हिश, सावधानी से। इस तरह मत खींचना। अगर ज़रा भी लापरवाही की तो पत्रक टूक-टूक हो जायगा।

मैंने उनकी सूचनानुसार, बड़ी सावधानी से पत्रक बाहर निकाला। एक बार नज़र दौड़ाई। काग़ज़ बहुत पुराना था—मोटा और खुरदरा। उसकी स्याही फीकी थी और लिपि अस्पष्ट। दीमक ने भी कुछ लिखा हुआ भाग खा डाला था। संभव है किसी ज़माने में उस काग़ज़ का रंग सफ़ेद रहा हो। किन्तु सैकड़ों वर्षों की लंबी अवधि के कारण अब वह पुराना, मटमैला और बदरंग हो गया था।

रायजी चुपचाप बैठे मेरा मुंह ताक रहे थे। उनके दिल की उमंग आँखों में आतुरता बनकर टपक रही थी। उंगलियाँ अधीर हो,

मेज़ को तबले की पृष्ठभूमि बनाकर थिरक रही थीं। उनकी मुखाकृति से ऐसा मालूम हो रहा था मानो वे कुछ कहने के लिए उतावले हो रहे हों। फिर भी, मेरे ही मुँह से कुछ कहलवाने के इरादे से अपने मुँह पर ताला लगाए चुपचाप मेरी ओर देख रहे थे।

मैंने पत्रक पढ़ने की चेष्टा की। पर उस विचित्र लिपि को न समझ सका। अभ्यास जो न था। इधर-उधर के किसी कन्नड़ अक्षर को देखकर केवल इतना समझ सका कि उस की भाषा कन्नड़ है। पूरा नहीं पढ़ सका। काफ़ी सर खपा चुकने पर, विवश हो, मैंने उन से कहा—"रायजी, यह कैसा पत्रक है?"

"क्यों, समझ में नहीं आया?"

"अक्षर हों तो पढ़ूँ! यह लिपि है या गोरखधंधा। इसे पढ़ने के लिए एक तीसरी आँख चाहिए। आप ही बता दीजिए कि यह क्या है?"

"यह एक दान-पत्रक की नकल है। आज ही हाथ लगी है सवेरे एक मुवक्किल आया था। अकस्मात् उसके अदालती-काग़ज़ों के पुलिंदे में से मिलगई। बड़ा महत्वपूर्ण दान-पत्रक है। समझे? मेरा अनुमान है कि इस प्रतिलिपि को बने ही सौ वर्ष से अधिक समय हो गया हो। यह नवाब हैदरअली ख़ाँ के ज़माने की है। उसके पुत्र टीपूसुल्तान ने चित्रदुर्ग के निवासी भैरवी वेंकटसुब्बय्या को जो दान दिया था, उसीका इस में उल्लेख है।"

"संभव है, ऐसा ही हो। लेकिन ऐसी और भी सैकड़ों चीज़ें हैं। तब इसी की कौनसी विशेषता है? आप के कहने का ढंग देखकर

मैंने समझा था कि आप कोई विलक्षण वस्तु दिखलाने जा रहे हैं। मगर यह तो ऐसा ही हुआ कि खोदा पहाड़ और निकला चूहा।" मैंने कुछ रुखाई के साथ कहा।

मेरा यह उपेक्षा-भाव उन्हें अखर-सा गया। वे चिढ़कर बोले— "क्या यह कम महत्व की वस्तु है? इसी लिए मैंने कहा था कि खुद पढ़ो। सुना है कि वेंकटसुब्बय्या बहुत बड़े गायक थे। उन्होंने टीपूसुलतान के सामने गाने से इनकार कर दिया था। इस पर सुलतान ने उन्हें धमकी दी थी कि अगर तुम हमारे सामने नहीं गाओगे तो तुम्हारी जीभ कटवा दी जायगी। तब उस गायक ने खुद ही अपनी जीभ काट ली थी। टीपू ने उनके अटल निश्चय से प्रभावित होकर उन्हें 'तोरेपूर' के आस-पास की भूमि जागीर में देदी थी। ऐसे पत्रक को पढ़ते समय कल्पना-शक्ति से भी काम लेना चाहिए। केवल अक्षर पढ़ जाने में विशेषता नहीं है। मैंने सोचा था कि तुम साहित्यिक हो, शायद कुछ ऊँची उड़ान भर सको। लेकिन तुम तो बुध्दू ही निकले। अरे भाई, मैं जानना चाहता हूँ कि जब एक गायक अपने ही हाथों से अपनी जीभ काट लेने पर उतारु हो गया, उस समय उसके सामने कैसी विषम परिस्थिति रही होगी! क्या तुम इतना भी नहीं सोच सकते! पता है, दान-पत्रक कब का है? शायद नहीं जानते। जब चित्रदुर्ग का क़िला हैदर के हाथ लगा, उसके ठीक एक महीने बाद का है। तनिक उन कारणों पर विचार करो, जिन्होंने इस छोटी-सी अवधि में इतना बड़ा काण्ड हो जाने दिया। उस गायक का नाम भैरवी वेंकटसुब्बय्या था। उस नाम का क्या अर्थ और महत्व है, कुछ जानते हो?"

"जी नहीं।"

"जी नहीं!" उन्होंने और खीझकर कहा "बस, तुम्हें इतना ही मालूम है। भैरवी वेंकटसुब्बय्या का अर्थ होता है—भैरवी उनका सिद्ध राग था जिसे गाने में वे अपना सानी नहीं रखते थे; समझे? उस समय की जनता ने प्रसन्न होकर उसी राग का नाम उपाधि के रूप में उनके नाम के साथ जोड़ दिया। उस महान् विभूति ने टीपू के समक्ष गाने से इनकार कर दिया और अपनी जीभ काट ली। इस घटना के पीछे जो अनिवार्य मर्मांतक बातें बीती होंगी, क्या तुम उनका अनुमान नहीं कर सकते? निस्संदेह, इस फटे-पुराने काग़ज़ में उस बलिदान की अमर-गाथा अंकित नहीं है। पर क्या तुम उसकी कल्पना नहीं कर सकते? चित्रदुर्ग के एक स्वाभिमानी गायक ने विजेता टीपू का सामना किया, अपने त्याग से उसका हृदय जीत लिया—क्या यह बात तुम्हें रोमांचित नहीं करती? चित्रदुर्ग के इतिहास में यह अपूर्व घटना क्या स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने के योग्य नहीं! बड़े खेद की बात है कि तुम में किंचित् भी कल्पना-शक्ति नहीं! तुम्हारे जैसे साहित्यकारों के सामने हमें चुल्लूभर पानी में डूब मरना चाहिए, और क्या?"

यह कहते-कहते उनका गला भर आया। मुझे उनकी अन्तर्वेदना का कुछ कुछ आभास हुआ। दो चार क्षण मैं उनकी बातों पर विचार करता रहा। मुझे ऐसा लगा कि उनकी बातों में तथ्य है, सार है। फिर सिर उठाकर बोला—"सच है, रायजी। आप की बातें बिलकुल सही हैं। मैं उतनी दूर तक सोच नहीं सका। सोचने भर का अवकाश भी नहीं मिला।"

" नहीं, यह बात नहीं। तुम लोग बिना सोचे-विचारे यों ही बड़बड़ाने लगते हो। इसी लिए मन ऊब उठता है। खैर, यह गनीमत है कि उसका महत्व कम से कम अब तो तुम्हारी समझ में आ गया है। अच्छा, देखो ! अब तुम्हें एक काम करना होगा।"

" क्या ?"

" मुझे यह पत्रक हिरियूर-ग्राम के एक आसामी से मिला है। जब मैंने उससे पूछा कि यह पत्रक तुम्हें कहाँ से मिला, तब उसने कहा था कि मुझे कुछ भी मालूम नहीं। शायद मेरी नानी कुछ बतला सके, उसे पूछ देखूँगा। इसलिए मैं तुम्हें उसके नाम पर एक चिट्ठी देता हूँ। तुम खुद वहाँ जाकर उन सब बातों का पता लगाओ। साथ ही, यह भी खोज करो कि वहाँ वेंकटसुब्बय्या का कोई वंशज है या नहीं। अगर हो तो उस से वेंकटसुब्बय्या की जीवनी के बारे में कुछ जानने की कोशिश करो। संभव है, इस प्रयत्न से उनके जीवन पर कुछ अधिक प्रकाश पड़े।"

" अच्छी बात है, करूँगा। पर यह बताइये कि हमारे गाँव में उनके विषय में जाननेवाला कोई नहीं है क्या ?"

" पता नहीं, तुम ही किसी से पूछ देखो। यहाँ के लोगों से कुछ मालूम हो सकेगा—इस में मुझे संदेह है। फिर भी, एक-दो पुराने व्यक्ति हैं। चाहो तो उनसे मिल लो। शायद कुछ निकल आये। लेकिन उनसे कुछ निकले या न निकले, हमें अपना प्रयत्न जारी रखना होगा। समझे ?"

" अच्छी बात है।"

" एकनाथेश्वरी-मंदिर के पुजारी को जानते हो न ?"

" कौन, वीरभद्रप्पा ?"

"हाँ, उनके पिताजी हैं, बिलकुल बूढ़े। चित्रदुर्ग की कई बातें मुझे उन्हीं से मालूम हुई हैं। लेकिन इस विषय में उन्होंने मुझसे आज तक कुछ नहीं बताया है। पूछने पर शायद कुछ बता दें। हाँ, इसी प्रकार मुरुगीमठवाले रंगनाथ जोशी के पिता लिंगा जोशी से भी मिलना। पता नहीं, तुम किससे मिलोगे और किससे नहीं। पर चाहे जो हो, इस विषय की छान-बीन करने का जिम्मा तुम्हारा है। तनिक गहरे पैठो तो कुछ हाथ लगे।"

"आप निश्चिंत रहिये, रायजी। मैं इसका सारा जिम्मा अपने ऊपर लेता हूँ।" यह कहते हुए मैंने कर्तव्य-पालन का पूर्ण आश्वासन दिया। तब तक मेरे मन में भी भैरवी वेंकटसुब्बय्या के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हो गई थी। मैंने निश्चय कर लिया कि इस विषय में रायजी को कोई शिकायत करने का मौका नहीं दूँगा।

उन्होंने पूछा—"तब तुम हिरियूर के लिए कब रवाना होओगे?"

"यही, कल-परसों तक। पहले यहाँवालों से मिल लूँ। फिर वहाँ जाऊँगा।"

"ठीक। जाने से पहले मुझसे एक बार मिल लेना। मैं अपने आसामी भीमण्णा के नाम एक चिट्ठी लिख दूँगा। वह तुम्हारे लिए सब व्यवस्था कर देगा। समझे? हमें हर हालत में उनकी संपूर्ण जीवनी खोज निकालनी है। क्या?"

"ज़रूर, ज़रूर। अच्छा, अब मैं चलता हूँ, रायजी।"

"अच्छा........।"

मैं उनसे विदा होकर घर की ओर चला। मेरे हृदय में एक विचित्र हलचल मची हुई थी। विचारों के घोड़े दशों दिशाओं में उड़

रहे थे। किसी तरह घर पहुँचा, भोजन किया और लेट गया। लेकिन रह-रहकर उनके ये शब्द मेरे कानों में गूँजते रहे —"इस वीरभूमि में न जाने कितने महापुरुष हो गये हैं। परन्तु आज हम इतने अयोग्य हैं कि उनके नाम तक याद नहीं रख सकते।"

यह बात उनके व्यथित-हृदय से निकल कर अब मेरे अंतस्थल को बेध रही थी।

हम सचमुच ही अभागे हैं। आज न तो हमें अपने देश का इतिहास ही याद है और न इस भूमि को अपनी चरण-धूली से पवित्र करनेवाले महानुभावों का चरित्र ही —कुछ भी तो याद नहीं रहा। उनके त्याग, बलिदान और साहस की कथाएँ हमारी विस्मृति के गर्त में लीन हो गई हैं.........।

.........अहा! कितना दिव्य रहा होगा उस गायक का जीवन! जिसने, बात की बात में अपनी जिह्वा की भेंट चढ़ा दी! वह हमारा था। हमारे ही गाँव का था। फिर भी हम उसकी कहानी नहीं जानते। कहानी तो दूर रही, हम उसका नाम तक भुला चुके......।

यह सोचते-सोचते उनकी जीवनी जान लेने की इच्छा प्रबल हो उठी थी और मैं सुबह की प्रतीक्षा में बिछौने पर पड़ा-पड़ा रात भर करवटें बदलता रहा। कुतूहल, मन को अस्थिर और अशान्त बना रहा था। क्या पता, सवेरे कितनी बातें मालूम हों! क्या उस महान् आत्मा के रसमय जीवन की सभी घटनाएँ प्रकाश में आ सकेंगी?

सपने में कोई भैरवी के स्वर भर रहा था। आवाज़, कानों में रस घोल रही थी, लेकिन चेहरा दिखाई नहीं दे रहा था।

...तीन

दूसरे दिन सवेरे उठते ही मैंने अपना गवेषणा-कार्य आरंभ कर दिया।

रायजी के निर्देशानुसार, पहले-पहल मैं रंगनाथ जोशी के घर उनके पिता श्री लिंगा जोशी से मिलने के लिए गया। वे उस समय स्नान कर, साफ़-सुथरी धोती पहने, शायद पूजा-गृह की ओर जाने वाले थे। मेरी आवाज़ सुनकर बाहर आये और पूछा—"कौन? ......ओह! तुम हो क्या? कहो, कैसे आना हुआ सुब्रमण्यम?"

"ज़रा आपके पिता जी से मिलना है, जोशी जी।"

"क्यों?"

"दुर्ग के एक ऐतिहासिक व्यक्ति के संबन्ध में कुछ बातें जानने की इच्छा है। इसलिए, सवेरे ही चला आया। घर में हैं क्या?"

"हाँ, हैं। पिछवाड़े में बैठे धूप खा रहे होंगे। चलो वहीं चलें।"

मैं उनके पीछे-पीछे लिंगा जोशी जी के पास चला।

रंगनाथ जोशी गाँव के लगभग सभी शिव-मंदिरों के पुजारी थे। अतः उनके घर के बारे में कहना ही क्या! मुझे उस घर में प्रवेश

करते समय कुछ धैर्य की आवश्यकता महसूस हुई। आन्ध्र के कवि-सम्राट श्रीनाथ का कथन याद आगया। उन्होंने एक स्थान पर पुरोहित के घर का वर्णन इस प्रकार किया है — "जगह-जगह पर बच्चों की टट्टी, कोने-कोने में मैले-कुचैले कपड़ों के ढेर, घुटे हुए सरवाली वृद्ध विधवाओं का झुण्ड, गाली-गलौज की बुलंद आवाज़ें। और...... पुरोहित के घर को देखना नहीं चाहिए, देखने के बाद कुछ कहना नहीं चाहिए।" आदि-आदि। दहलीज़ के भीतर पैर रखते ही मुझे कुछ ऐसा लगा कि कहीं श्रीनाथ ने इन्हीं का घर नहीं देख लिया हो! फिर भी मैं अपनी ग़रज़ से सिर झुकाए चला जा रहा था।

पिछवाड़े में तुलसी-क्यारी के सामने लिंगा जोशी जी धूप में बैठे हुए थे। सतहत्तर की अवस्था पार कर चुके थे। आँख-कान कुछ मंद हो चले थे। रंगनाथ जोशी ने उनसे ज़रा ऊँची आवाज़ में कहा— "पिताजी, वे अपने वकील साहब रामचन्द्रय्या जी हैं न, उनका बेटा सुब्रमण्यम आप से मिलने आया है।"

उन्होंने आँखों के ऊपर हथेली टिकाते हुए मेरी तरफ़ देखकर पूछा — "तुम ही हो क्या रामचन्द्रय्या के बेटे? अच्छे हो न? कहो, कैसे आये?" इसके बाद उन्होंने मुझे कुछ भी कहने का अवकाश न देकर हमारी दो पीढ़ियों के सगे-सम्बन्धी, उनके नाते-पोते, उनकी शादी-ब्याह, नौकरी-धन्धा, संतान, पदवी आदि सभी विषयों के आद्योपांत समाचार पूछे। फिर यह सोचकर कि शायद मैं किसी ज्योतिष संबन्धी काम से आया हूँ, उन्होंने प्रश्न किया — "कैसे आना हुआ? अब मैं ज्योतिष वगैरह छोड़ बैठा हूँ। सब रंगनाथ को ही सौंप दिया है।"

"जी, मैं ज्योतिष का प्रश्न पूछने नहीं आया।" मैंने ऊँची आवाज़ में कहा ताकि वे साफ़-साफ़ सुन लें।

"धीरे बोलो न भैया, मैं कोई बहरा थोड़े ही हूँ! हाँ, तो फिर कैसे आये?"

"यही, दुर्ग के अंतिम नरेश मदकरि नायक के ज़माने में......।"

"अच्छा-अच्छा, रहने भी दो। वे सब बातें मेरे जन्म से एक सौ साल पुरानी हैं......।"

"जी, मैंने सुना है कि उस समय दुर्ग में एक बहुत बड़े गायक थे। नाम है उनका, भैरवी वेंकटसुब्बय्या। अगर आप उनके बारे में कुछ जानते हैं...तो...।"

"गवैया था क्या?.......अच्छा, नाम क्या बतलाया तुमने?"

"भैरवी वेंकटसुब्बय्या...।"

"भै-र-वी-वें-क-ट-सु-ब्ब-य्या....हँ....हाँ कोई थे। मैंने भी उनका नाम कहीं सुना है.....लेकिन कुछ.....।" कहकर जोशी जी अपना सिर खुजाने लगे, मानों स्मरण-शक्ति को तीव्र बना रहे हों।

इधर मैं उनकी बातें सुनने के लिए अधीर हो रहा था। कहीं मेरे कुछ और पूछ बैठने से उनका ध्यान भंग न हो जाय, इस भय से मैं अपने कुतूहल को दबाकर चुप बैठ गया। कुछ देर बाद उन्होंने कहना शुरू किया—"हाँ, देखो न! मैं उस विषय को बिलकुल ही भूल गया था। इन दिनों वैसी बातें सुनने में नहीं आतीं। तुम्हें उसकी क्या ज़रूरत पड़ गई!"

मैं आया था कुछ सुनने। अब मुझे ही सुनाना पड़ा। मैंने अनमने होकर सब बातें बतला दीं।

तब वे फिर बोले—"ऐसी बात है क्या! उन्होंने जीभ काट ली थी या नाक, मुझे यह सब तो मालूम नहीं। हमारे ज़माने में लोग सिर्फ़ इतना कहा करते थे कि वेंकटसुब्बय्या ऐसे थे, वैसे थे; और कुछ बूढ़ों के मुँह से मैंने उनके संगीत की प्रशंसा भी सुनी थी कि वे ऐसा गाते थे, वैसा गाते थे आदि। बस, इतना ही। यह भी सुनने में आया है कि वे देवी के उपासक थे। माँ सरस्वती स्वयं उनकी जिह्वा से बोलती थी। जब वे तन्मय होकर गाने लगते तब देवी प्रगट हो, उनके सामने बैठकर गाना सुना करती थी। कुछ भाग्यवानों ने उस दृश्य को देखा भी था। इस से ज्यादा मैं कुछ नहीं जानता। आज-कल वैसी बातें कहाँ! लोगों को न भगवान की ज़रूरत है, न धर्म-कर्म की!"

जोशी जी ने लम्बी साँस लेते हुए बीसवीं सदी के लोगों की नास्तिकता पर अपना असंतोष प्रकट किया। मेरे लिए कुछ ऐसा ही हुआ कि आये थे हरि भजन को, ओटन लगे कपास।

मैंने उनकी हाँ में हाँ मिलाते हुए कहा—"आपने सच कहा जोशी जी। इन दिनों न लोगों को भगवान की ज़रूरत है और न भगवान को लोगों की!"

"नहीं, यह बात नहीं है। पहले, लोगों को भगवान की ज़रूरत हो तब न भगवान को लोगों की ज़रूरत पड़े? तुमने क्या नाम लिया था उनका? . . . . वेंकटसुब्बय्या। वे हर शुक्रवार के दिन

एकनाथेश्वरी के मन्दिर में बैठकर गाया करते थे। जानते हो न, माता का मन्दिर पहाड़ पर है?"

"जी, बहुत अच्छी तरह।"

"वहाँ एक शिला थी। अब है या नहीं, कुछ पता नहीं। जब हम बच्चे थे तब एकनाथेश्वरी के मन्दिर में उसे 'वेंकटसुब्बय्या की शिला' कहकर दिखलाया करते थे। आजकल के लोगों को, मैं तो समझता हूँ कि उसकी बिलकुल याद तक नहीं रह गई है। ज्यादा क्यों, यदि दुर्ग में राघवेंन्द्रराव जैसे एक-दो आदमी न होते तो शायद लोग पहाड़ का होना भी भूल जाते। ऐसे लोग हैं ये!"

पल-पल में उनकी बातों का रुख़ बदल जाता था। कुछ का कुछ कहने लगते। जल्दी करूँ और वे कहीं कहना ही बंद कर दें तो — इस भय से मैं कड़ी धूप सहता हुआ भी चुप बैठा रहा।

"जोशी जी, उन्होंने संगीत की शिक्षा कहाँ पाई थी, यह कुछ मालूम है आपको?" मैंने पूछा।

"नहीं तो, वह हमारे ज़माने के लिए ही सौ वर्ष पुरानी बात थी। फिर....।"

"आज-कल उनके वंशज कोई हैं क्या?"

"मुझे मालूम नहीं भैया। लेकिन कभी सुना था कि हिरियूर के पास तोरेपूर ग्राम में कोई है। अब वह है या नहीं, मुझे इसकी ख़बर नहीं। कलजुग क्या आ गया, सारा ब्राह्मणत्व बिखर गया। हाँ, यदि वहीं जाकर पूछ-ताछ करो तो संभव है कुछ पता मिल जाय। भैया, उन सब बातों की ग़रज़ ही किसे पड़ी है? कोई कहीं

रहे या कहीं जाय! सब को अपनी-अपनी झंझट से मतलब है। उन सब की सुध कौन ले? अपना कंथा अपने कंधे!"

"तो क्या जोशी जी, अपनी झंझट में हमें पूर्वजों की बातें भुला देनी चाहिए?"

"और नहीं तो, क्या उनका मुरब्बा बनाकर खाओगे? लेना एक, न देना दो। तुम क्या जानो बेटा, घर-गृहस्थी किस चिड़िया का नाम है! जब घरवाली आयगी तब पता चलेगा। ये सब बातें अपने आप छूट जायँगी।"

"जोशी जी, अभी-अभी आपने ही तो कहा था कि बस्ती में अगर राघवेंद्रराव जैसे आदमी न होते तो शायद यहाँ के लोग पहाड़ का होना भी भूल जाते। और अब आप ही..... बतला रहे हैं कि इस पागलपन को छोड़ दो।"

"ऊँ, रहने भी दो। उनकी बात और है। दसों अवतार हो चुके हैं उनके। तुम अभी बच्चे हो, शादी-ब्याह करना है, घर बसाना है, सब कुछ करना है। उस फेर में भूलकर भी मत पड़ो तुम। भले ही कोई भाड़ में जाय, तुम इस पचड़े से दूर ही रहो।"

जोशी जी ने मुझे संक्षेप में जीने का तरीक़ा बतला दिया।

उनकी बातें दिल में काँटे की तरह खटक गईं। क्या अपने पूर्वजों की कहानी जानना पागलपन है? बात जीभ तक आ गई कि पूछ बैठूँ—"तो क्या जोशी जी, आपके मरजाने के बाद हम आपको भी भूल जायँ?" पर इससे लाभ ही क्या था? मुफ़्त में मन-मुटाव हो जायगा और कुछ भी नहीं मिलेगा। यह सोचकर मैंने कहा—"जोशी जी, अब मुझे आज्ञा दीजिए। दिन काफ़ी

चढ़ आया है। फिर कभी आपके दर्शन करूँगा। इतनी बातें बतलाकर आपने मुझ पर बड़ा उपकार किया। मैं चलूँगा, नमस्ते।" कहकर मैं बाहर आगया।

यद्यपि जोशी जी से मुझे ज़्यादा बातें मालूम नहीं हुईं, फिर भी संदेह की जो पतली तह मेरे मन पर थी, वह दूर हो गई।

राघवेंद्रराव जी ने मुझे जो दान-पत्रक दिखलाया था, वह मूल नहीं था। उसकी नक़ल मात्र थी। ऐसी नक़लें बहुधा जाली भी हुआ करती थीं। दूसरों की ज़मीन पर अपना हक़ जमाने के लिए या किसी और की संपत्ति को हड़प जाने के लिए बनाली जाती थीं। ऐसे सैकड़ों दृष्टांत ख़ुद मेरे देखने में आये हैं। काग़ज़ की नक़ल तो मामूली बात है, पर जाली ताम्र-पत्र तक तैयार करा लिये जाते हैं। इसी लिए संभव है कि रायजी ने जो कुछ दिखलाया है, वह भी विश्वामित्र की नई सृष्टि जैसा हो और उसमें लिखित सारी बातें कोई गढ़ी हुई कहानी हो—मुझे ऐसी शंका हो गई थी।

अब जोशी जी की बातों से यह विश्वास हो चला था कि चित्रदुर्ग के अंतिम नरेश 'मदकरि नायक' के ज़माने में उस नाम का एक नामी गायक था। यही नहीं, हिरियूर के पास तोरेपूर नामक ग्राम में उसके वंशज भी रहते हैं, इससे उस विचार की और पुष्टि हो गई। यह दूसरी बात है कि फ़िलहाल वे लोग वहीं रहते हैं या कहीं और। एकनाथेश्वरी के मन्दिर में भैरवी वेंकटसुब्बय्या बैठ कर गाया करते थे, उनकी आसन-शिला भी बहुत समय तक मौजूद थी—यह जानकर मुझे बड़ी ख़ुशी हो रही थी। कम से कम इतनी नई बातें तो मालूम हुईं! परंतु, पूर्वजों का विषय बतलाते

समय जोशी जी ने जो उपेक्षा प्रगट की उससे मेरा मन कुछ मुरझा गया। तत्वान्वेषण के लिए जो निकला हो, क्या उसे इस तरह प्रोत्साहित किया जाता है? क्या सचमुच हमारे देश का प्राचीन इतिहास मिर्च-मसालों की उपयोगिता से भी गया-बीता है?

जिनका संपूर्ण जीवन दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में व्यतीत होता हो, संघर्ष से जीवन दूभर हो गया हो, उन्हें इन सब बातों से क्या मतलब?—मेरे अंतःकरण ने प्रश्न किया।

मैं मन ही मन इन विषयों पर तर्क-वितर्क करता हुआ वीरभद्रप्पा के घर की ओर चल पड़ा।

...चार

एकनाथेश्वरी के पुजारी वीरभद्रप्पा का मकान उसी पहाड़ की तलहटी में था। ऊँचाई पर खड़े होकर देखें तो चित्रदुर्ग नगर ऐसा लगता है मानों पहाड़ के आँचल से खिसककर धरती पर फैल गया हो। पूर्व दिशा की ओर से प्रवेश करने पर पहले-पहल रंगय्या का फाटक मिलता है। उसमें से होकर आगे बढ़ें तो सामने ही नगर का बाज़ार और उससे तनिक दूरी पर बिलकुल सामने, उत्सवाम्बा का मन्दिर दिखाई पड़ता है। रास्ते के दोनों किनारों पर खड़े लम्बे-लम्बे नारियल के पेड़ हवा में झूमते-फड़फड़ाते नज़र आते हैं। यहीं से ग्राम-देवी के मन्दिर का उन्नत गोपुर दिखाई पड़ने लगता है। कुछ और आगे चलकर ऊपर दृष्टिपात करें तो एक बड़े टीले की नोक पर बना बसव-मन्दिर का गुम्बद चित्त को आकर्षित करता है। उसी मन्दिर के पीछे, पर्वत-शिखर पर नीलाकाश से बातें करता, सूर्य-रश्मियों से झिलमिलाता हुआ नील-पताका-स्तंभ शोभायमान हो रहा है। ये दृश्य मेरे लिए नये नहीं हैं। मैं इन्हें कई वर्षों से लगातार रात दिन देखता आ रहा हूँ। पर आज कुछ और ही बात थी। उनमें नया रंग था, नया उत्साह था और था नया जीवन। आज मेरे लिए वे प्राकृतिक दृश्य मात्र नहीं रह

गये थे। वरन् मुझे कुछ ऐसा अनुभव हो रहा था मानों हम दोनों में एक प्रकार का सामीप्य और आत्मीयभाव जाग्रत हो गया है। मैं, यह सब कुछ, स्वप्निल-दृष्टि से निहारता हुआ धीरे-धीरे वीरभद्रप्पा के घर की ओर चला जा रहा था।

उत्सवाम्बा मंदिर के बगलवाली गली में मुड़कर, तनिक आगे बढ़ें तो वहीं वीरभद्रप्पा का मकान मिलता है। छोटा-सा घर, लेकिन साफ़-सुथरा। आँगन में फैला चमेली का कुंज, सर्वत्र शीतल छाया दे रहा था। चमेली के हरे-हरे पत्ते, चढ़ती धूप में टिमटिमाते हुए तारों की तरह दमक रहे थे; और फूलों की उड़ती हुई सुगन्ध, चलने की थकावट हर लेती थी। उसी छाया में, एक खूँटे से बँधा हुआ प्यारा-सा बछड़ा, हरी-हरी घास खा रहा था।

मैंने द्वार खटखटाकर आवाज़ दी। पर, शायद घरवाले किसी काम में लगे हुए थे। मेरे दो-एक बार पुकारने के बाद एक व्यक्ति बाहर आया। उसने पूछा — "कहिये, कैसे आना हुआ?"

"बाबूजी से मिलने आया हूँ। अंदर हैं क्या?"

"नहीं न, वे तो पहाड़ पर हैं।"

"घर कब आते हैं?"

"कुछ कह नहीं सकता। उन्हें पहाड़ पर गये आज तीन दिन हो गये हैं। क्या पता, कब आयें।"

"अच्छा, वहाँ वे मंदिर में रहते हैं क्या?"

"जी नहीं, वहाँ हिंडोला-स्तंभ है न, उसके बगल में एक छोटा-सा मकान है, उसी में रहते हैं। आज तीन दिनों से देवी की पूजा भी वे ही कर रहे हैं।"

"वे अब बूढ़े हो गये हैं, घर पर आराम क्यों नहीं करते?"

"यह बात उन्हें छू तक नहीं गई, बाबूजी। क्या कहूँ, मैंने तो उन्हें बहुत समझाया, पर वे मानते ही नहीं। कहते हैं कि अब जीवन के दिन ही कितने रह गये हैं। जब तक यह है तब तक माँ की सेवा तो कर लूँ। किसे ख़बर है, ये आँखें कब मुंद जायँ।"

"अकेले रहने में उन्हें तकलीफ़ नहीं होती?"

"मेरा बेटा रुद्रमुनि भी उन्हीं के साथ रहता है। दोनों जून का भोजन ले जाता है। चढ़ती और ढलती ज़िंदगी का खूब मेल हुआ है। वहाँ दोनों मिलकर अपना समय काट लेते हैं।"

"सिर्फ़ वे ही ऐसा साहस कर सकते हैं, हम जैसे नहीं।" मैंने कहा।

"पहाड़ पर रहना उनके लिए मामूली बात है। वे कहते हैं कि बस्ती में रहने से मैं ऊब जाता हूँ। पहाड़ पर यह बात नहीं। यह देखकर मैंने भी उन्हें कहना छोड़ दिया है। जहाँ जी चाहे, रहें।"

"यदि मैं वहाँ जाऊँ तो मिल जायँगे न?"

"हाँ, मिल जायँगे। वे या तो मन्दिर में होंगे या उस घर में।"

"अच्छा, तो मैं वहीं जाता हूँ।"

मेरी बातें सुनकर उन्हें कुछ अचरज हुआ। बोले—"बाबूजी, उनसे कुछ कहना हो तो मुझे ही बतला दीजिए। मैं समझता हूँ, अब

मेरा बेटा भोजन ले जाने के लिए आता ही होगा। उससे कहला भेजूँगा।"

"नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। ज़रा उनसे मिलकर एक-दो विषयों को जान लेना है। बस, और कुछ नहीं।"

"फिर भी बाबूजी, सूरज सिर पर चढ़ आया है। आप शाम के वक्त मिलने चले जायँ न?"

"नहीं, कोई बात नहीं, अभी चला जाऊँगा। अच्छा, नमस्ते।" कहकर मैं उनसे विदा हुआ।

मैं, बसव-मन्दिर के गुम्बद की ओर जानेवाले रास्ते चल पड़ा। क़िले की टूटी-फूटी दीवार अब पगडंडी का काम देती है। वहाँ की सँकरी जगह पार कर थोड़ी दूर आगे चले जायँ तो सौ सीढ़ियाँ मिलती हैं। इन्हें लाँघकर कुछ आगे बढ़ने पर टीपू सुलतान का बनवाया हुआ रंगीन फाटक मिलता है। उसके आगे का रास्ता पथरीला है, जिसमें छोटे-छोटे छिद्र बनाये गये हैं। हाथी-घोड़ों के चलने-फिरने के लिए, नायकों के ज़माने में, यह सुविधा की गई थी। पथरीली राह के मोड़ पर पत्थरों से बनाई गई एक व्यायामशाला है। उसी के पार्श्व में विघ्नेश्वर का मन्दिर बना है। वहाँ से कुछ दूर बाईं ओर मुड़ने पर, सामने फिर एक फाटक मिलता है। फाटक के उस पार मन्दिर का लम्बा-चौड़ा मैदान दिखाई देता है। नायकों के शासन-काल में यहीं बड़ी-बड़ी इमारतें बनी हुई थीं। उनकी बाईं ओर से संपिगे सिद्धेश्वर के मन्दिर का रास्ता जाता है। बीच में कोषागार और एक पथरीला आँगन भी मिलता है। उसी की पीठ से लगकर, नन्दी की भाँति टाँग पसारे हुए, एक ऊँची चट्टान पर

भगवान हिडिम्बेश्वर का मन्दिर दृष्टिगोचर होता है। दाईं ओर, काफ़ी ऊँचाई पर एकनाथेश्वरी माता का मन्दिर है। सामने कोषागार की टूटी-फूटी दीवारें खड़ी हुई नज़र आती हैं। उनके बीच में पत्थर का बना हिंडोला और चट्टान को कुरेदकर बनाया गया जया-स्तंभ आदि दिखाई देते हैं। हिण्डोला-स्तंभ तथा कोषागार के बीच में एक छोटी-सी तलैया है, जिस में कहीं मिट्टी के टीले और कहीं पत्थरों का जमाव है। कहा जाता है कि नायकों के समय में राज-परिवार के लोग उस तलैया में जलक्रीड़ा किया करते थे। उस के किनारे, एक छोटा-सा पत्थर का घर है। पुजारी वीरभद्रप्पा ने मुझे उसी का नाम बताया था।

दरवाज़े पर ताला लगा हुआ देखकर मैं समझ गया कि बाबाजी, ऊपर, एकनाथेश्वरी के मन्दिर में हैं।

एकनाथेश्वरी का मन्दिर, वास्तव में एक बहुत बड़ी चट्टान को काटकर बनाया हुआ गुफा-मन्दिर है। गुफा को ही माता का गर्भ-गृह माना जाता है। उसीको मिलाकर मन्दिर की इमारत खड़ी की गई है। गर्भ-गृह के सामने एक छोटा-सा दालान है। मन्दिर के सामने खड़े होकर, यदि नीचे की ओर देखें तो वहाँ का दृश्य बड़ा नयनाभिराम दिखाई देता है। ऐसा लगता है मानों अर्ध-वृत्ताकारवाला पर्वत अपनी भुजाएँ फैलाकर पड़ा है। पर्वतमाला के बीच में कलशों के समान दिखाई देनेवाले तीन बुर्ज हैं जो किसी समय नौबत-ख़ाना, निरीक्षणालय और शस्त्रागार के काम में आते थे। उनसे कुछ नीचे संपिगे सिद्धेश्वर का मन्दिर, मुरुगीमठ, पाण्डवों के विमान, सभा-स्तंभ और पास ही राजभवन का मैदान वग़ैरह दिखाई पड़ते हैं।

मैं, क्षण भर उन्हें एकटक देखता रहा। यह सोचकर कि ये सब हमारे अपने हैं — मन में एक प्रकार का रागात्मक भाव पैदा हुआ। पहाड़ों की गोद में दूर-दूर तक बिखरे पड़े अवशेष, स्वजनों के अस्थिपंजरों की भाँति नग्न और अनाथ खड़े थे! उस कड़ी दोपहरी में भी डरावना सन्नाटा छाया हुआ था। पर्वत का हृदय खाली पिंजड़े के समान सूना था। उस में 'महामौन' ही महाशोक की ध्वनि बनकर गूँज रहा था। और वह पर्वत, ऐसा लग रहा था जैसे किसीने असंख्य चट्टानों को एक पर एक रख कर जमा दी हों। उसमें दीखनेवाली सैकड़ों गुफाएँ, कंकाल की स्याह आँखें बनकर, इस जनविहीन महानाश को घूर रही थीं। मैं उस दयनीय दृश्य को अधिक देर तक न देख सका। मैंने आँखें फेर लीं; और सीधा मन्दिर की ओर चल पड़ा।

मन्दिर के अहाते में, जहाँ बड़े पत्थर की बनी एक चक्की, दो-एक टूटे-फूटे नगारे और जीर्ण-शीर्ण पालकियाँ पड़ी हुई थीं, मुरुगेंद्रप्पा अपने पोते के साथ बैठे हुए थे।

उनकी उम्र शायद अस्सी के निकट रही होगी; आदमी पूरे छः फुट के और शरीर लंबाई के अनुरूप। यद्यपि उनके शरीर में झुर्रियाँ पड़ गई थीं, फिर भी उन्हें दुर्बल नहीं कहा जा सकता था। सिर पर रेशम जैसे, सफ़ेद बालों की शिखा थी। उनके व्यक्तित्व में, देखनेवालों के मन में सहज ही श्रद्धा पैदा करने की क्षमता थी। किसी समय इस व्यक्ति का समाज में बोलबाला था। पर अब वही व्यक्ति केवल आदरणीय रह गया है। जहाँ भगवान की ही कोई गिनती न हो, वहाँ ऐसे पुजारियों को कौन पूछे?

इसीलिए, मुझे अपनी खोज में आया जानकर उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ। "बाबू, इस जलती धूप में मुझसे मिलने आये! कहो, अच्छे तो हो?" उन्होंने पूछा।

"हाँ बाबा, आप से कुछ बातें करने की थीं।"

"क्या, कुछ पूछना है?"

"हाँ।"

"कहो।"

"आज सवेरे, जोशी जी कह रहे थे कि यहाँ कोई 'वेंकट-सुब्बय्या की शिला' है....।"

"कौन, रंगनाथ जोशी?"

"ना, उनके पिता लिंगा जोशी।"

"हाँ, यों कहिये न, बेचारे रंगनाथ को ये सब बातें क्या मालूम! बड़े जोशी जी ने भी बचपन में सुना होगा।"

"वह शिला अब भी है क्या, बाबा?"

"है क्यों नहीं, बेचारी शिला कहाँ जा सकती है! सिर्फ़ देखनेवाला नही है!"

"मैं इस समय उसे देख सकता हूँ क्या? यदि आप को कष्ट न हो तो....।"

"हाँ, हाँ, दिखाऊँगा। इस में कष्ट कैसा? सच पूछो तो तुम जैसों का देखना ही बड़ी बात है।" कहकर उन्होंने अपने पोते को पुकारा। रुद्रमुनि के बाहर आने पर बोले—"बेटा, एक दिया तो जला ला "

वे उठकर भीतर चले। मैं भी उनके पीछे-पीछे चलने लगा।

गर्भ-गृह के सामनेवाले आँगन में भी अँधेरा भरा था। तब तक रुद्रमुनि दिया ले आया। लेकिन मुझे कुछ भी साफ़-साफ़ दिखाई नहीं दे रहा था। मुरुगेन्द्रप्पा बड़ी आसानी से बढ़े जा रहे थे। क्योंकि वे उसके आदी थे। पर मुझे पग-पग पर ऐसा लग रहा था, जैसे अब ठोकर लगी। इसलिए मैं एक मिनिट वहीं खड़ा हो गया ताकि आँखें अँधेरे से परिचित हो जायँ। वे दोनों मिलकर कोई चीज़ इधर-उधर हटा रहे थे। मुझे वह चीज़ नहीं दिखाई पड़ी, सिर्फ़ आवाज़ सुनाई दी। चार-पाँच क्षण बीत जाने पर रुद्रमुनि दिया लेकर मेरे पास आया। बोला—"इस तरफ़ आइये, बाबूजी। मैं उस क्षीण प्रकाश में धीरे-धीरे बढ़ चला।

गर्भगृह के दाईं ओर, कोई दस कदम की दूरी पर, मुरुगेंद्रप्पा बैठे हुए थे। रुद्रमुनि ने उनकी बग़ल में दिया रख दिया।

"देखो बाबू, यही वेंकटसुब्बय्या की शिला है।" मुरुगेन्द्रप्पा ने शिला पर थप्की देते हुए कहा। मैंने उसे टिमटिमाते दीपक के प्रकाश में देखा। मन्दिर के पथरीले-फ़र्श से कोई चार अंगुल ऊँची, एक विशाल, चौकोर और अखण्ड शिला पड़ी हुई थी। उस पर लगभग दस आदमी आराम से बैठ सकते थे। उसके चारों किनारों पर नक्काशी का काम किया गया था और बीच में एक अष्टदली कमल बना था। वह चिकनी थी और दीपक के प्रकाश में चमक रही थी।

"कहते हैं कि आचार्य जी इस पर मृगचर्म बिछाकर गाने बैठा करते थे। ठीक इसके सामने दूसरी तरफ़ ऐसी ही एक और शिला है। उस पर नायक आसीन होते थे।" मुरुगेन्द्रप्पा ने कहा।

मैंने उस चिकनी-चौकोर शिला पर यों ही ज़रा हाथ फेरा। उस शीतल शिला का स्पर्श मन को अच्छा लग रहा था। मैं, कुछ क्षण मौन हो, वहाँ का अंधकार निहारता रहा। मन, समय की सीमा तोड़कर अतीत में पहुँच चुका था और कुछ खोज रहा था।

वह दृश्य भी कितना भव्य रहा होगा, जब भैरवी वेंकटसुब्बय्या गा रहे हों और उनके समक्ष दुर्ग के अधिराज बैठे सुन रहे हों! क्या तब ऐसा ही, महुए के तेल का दम घोटनेवाला गरम धुआँ रहा होगा? क्या बोलनेवाले के मुँह पर थप्पड़ लगानेवाली प्रतिध्वनि इसी प्रकार हुआ करती होगी? ये टूटे-फूटे नगारे, बदरंग हाथी-घोड़े और टूटी-फूटी पालकियाँ, जो किसी समय उत्सव में ठाठ-बाट से निकला करती होंगी, आज किस दशा में हैं! हाय, कैसा घोर पतन है! वह भी दो सौ वर्षों में! अभी मुश्किल से दो सदियाँ बीती होंगी, इतने ही समय में सर्वनाश का ऐसा नग्न ताण्डव! मानव की श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, महत्वाकांक्षा, कला, साहस और साधना ने जिस स्वर्गीय सौंदर्य का निर्माण किया, उस पर कितनी जल्दी विनाश की पताका फहरा उठी है! हमारे जिन पूर्वजों ने अपने खून-पसीने से इस सौंदर्य-सौध को सींचा, क्या आज हम में उसकी रक्षा करने की क्षमता भी नहीं रही?

मेरी बाहरी आँखें बरसने को थीं और मन की आँखें अमूर्त को मूर्त रूप देने में तल्लीन।

अवश्य ही उन दिनों, काँसे-चाँदी के सैकड़ों दीपों की कोटि-कोटि तीक्ष्ण किरणों ने, मन्दिर के तिमिर-जाल को काट-फेंका होगा। मुरली, मृदङ्ग और वीणा के मंजुल-घोष ने मौन को पराजित कर

दिव्यता की छाप लगा दी होगी। बाहरी आँगन में उस समय सैकड़ों मशालें जलती होंगी। नायक का अँगरक्षक-दल पहरा देता होगा। अंतःपुर की चारु-दासियों की मधुर मुसकान ने आनन्द में मधुरस घोला होगा! मंदिर के अगर-चन्दन, धूप-दीप और कर्पूर की सुगन्ध से, रानिवास की सुन्दरियों की वेणियों में गुंथे पुष्पों ने होड़ लगाई होगी। वंदी-मागध जनों की गंभीर स्तुति ने मन्त्रघोष के साथ मिलकर इन पहाड़ी-गुफाओं में व्याप्त मौन को पराजित किया होगा!

सब कुछ हुआ होगा, रहा होगा, पर आज....? मरघटी-मौन ने वह सब ग्रस लिया है। ये नग्न-शिला-खण्ड, यह भयंकर मौन, यह विनाश — हमारे विगत भव्य जीवन के स्पंदनहीन चिह्न हैं। मानों ये अतीत काल को ही अपना सर्वस्व समर्पित कर आज जड़ और नीरस वर्तमान-जीवन के प्रतीक हों।

मंदिर के अँधकार ने मुझे बाहर धकेला। आँखें जल रही थीं जैसे उन में धुआँ घुस गया हो। मैं उठकर बाहरी आँगन में चला आया। दूर, चीखती हुई एक चील पर मेरी दृष्टि जम गई।

थोड़ी देर में मुरुगेन्द्रप्पा भी बाहर आ गये और सामने के शिलास्तंभ से टिककर बैठ गये। पुरानी स्मृतियों के करवट बदलने से शायद उनका मन भी विह्वल हो गया था। कुछ क्षण दोनों मौन रहे।

"बाबूजी, दुनिया क्या थी और क्या हो गई! मानों तूफ़ान में बड़े-बड़े पेड़ उखड़कर गिर गये हों और छोटे-मोटे रह गये हों। अच्छे-अच्छे लोग तो भगवान के घर पहुँच गये। सिर्फ़ मुझ जैसे पापी रह गये हैं।" उन्होंने निश्वास छोड़ते हुए कहा।

मैं चुप था।

"इतनी मुद्दत के बाद केवल आप 'वेंकटसुब्बय्या की शिला' खोजने आये हैं। जब पुरानी बातें याद आती हैं, तो मन में एक हूक-सी उठती है। कैसे-कैसे महानुभाव हो गये हैं यहाँ! आज उनका कोई नाम लेवा भी नहीं रहा। कहाँ तक कहूँ, ये लोग उन बुज़ुर्गों का नाम भी भूल गये हैं। अब आप ही कहें कि, ऐसे लोग क्या उन्नति कर सकते हैं?" मुरुगेन्द्रप्पा ने पूछा।

उनकी बातों में वर्तमान पीढ़ी के प्रति अविश्वास भरा हुआ था।

समय पाकर मैंने प्रश्न किया—"क्यों बाबा, आप वेंकटसुब्बय्या के बारे में कुछ जानते हैं?"

"उनके बारे में मेरे दादा बहुत कुछ कहा करते थे। वे बातें अब भी दिल में ताज़ी हैं। हम जब छोटे-छोटे लड़के थे, तब बड़ों की कहानियाँ सुनने में बड़ी दिलचस्पी रखते थे। आज-कल के लड़कों में यह बात भी नहीं है। बाबू, मैं बराबर देख रहा हूँ कि लोग दिनों-दिन गिरते जा रहे हैं। कभी अपने को सुधारने का नाम तक नहीं लेते। न जाने क्या हो गया है, इन्हें। मैं तो ऊब उठा हूँ। भगवान अब मुझे जल्दी उठालें तो अच्छा है।"

वर्षों से संचित वेदना आज मानों ज्वाला बनकर फूट पड़ी थी। उनकी ये बातें दिल में चुभ गईं। मैं व्याकुल-सा हो उठा था, जैसे सहसा चाबुक की मार पडी हो।

"आप सच कहते हैं, बाबा। हमारा देश, अभागों का देश हो गया है।"

"ख़ैर, जाने भी दीजिए इन बातों को। मैं बूढ़ा हूँ, दिल की आवाज़ न रोक सका। तुम बुरा न मानना।"

"ऐसी कोई बात नहीं, बाबा। आप ने जो कुछ कहा, वह कठोर सत्य है; और सत्य से कभी अप्रसन्न नहीं होना चाहिए। अच्छा, एक और उपकार कर सकेंगे मुझ पर?"

"कहिए, मैं क्या कर सकता हूँ?"

"आप वेंकटसुब्बय्या के बारे में जो कुछ जानते हैं, मुझे बतलाने की कृपा करें।"

मेरी बात सुनकर उन्हें कुछ अचरज हुआ। उनके चेहरे पर विषाद की एक हल्की-सी रेखा खिंच गई। बोले—"इसी लिए आये हो क्या?"

"हाँ, बिलकुल।"

राघवेंद्ररावजी को उनके मुवक्किल से दान-पत्रक का मिलना, फिर मेरा लिंगा जोशी से मिलने जाना और अंत में यहाँ तक आ पहुँचने की सारी बातें मैंने उन्हें बतलादीं।

"बाबू, तुम्हारी बातें सुनकर जी कुछ ठण्डा हो गया। पूर्वजों के विषय में अनुराग रखनेवाले तुम्हारे जैसे युवकों का होना ज़रूरी है। मैं जितना जानता हूँ, सब कुछ तुम को बतलाऊँगा। पहले तुम भोजन के लिए घर हो आओ।"

"भोजन की कोई चिंता नहीं, बाबा। यह तो रोज़ की झंझट है। आप वेंकटसुब्बय्या की कहानी सुनाइये।"

उन्होंने अपने पोते को बुलाकर कहा—"रुद्रमुनि, बाबू के लिए दो केले और खोपरा ला दो, तो ये कुछ खालें। उदर-देवता को कभी भूखा नही रखना चाहिए।"

मैंने इनकार नहीं किया। रुद्रमुनि जो कुछ ले आया, मैं उसे खाने लगा। मुरुगेन्द्रप्पा उठे। उन्होंने अपने पोते को दोपहर का खाना लाने के लिए घर भेजा। फिर भीतर गये, मंदिर का पट बन्द किया और मेरे पास आ बैठे। कुछ देर तक गरदन उठाए हिडिम्बेश्वर के मंदिर की ओर देखते रहे। फिर धीरे-धीरे कहानी सुनाने लगे।

...पाँच

"बाबू, आज एक–दो को छोड़कर बाकी के वेंकटसुब्बय्या का नाम तक नहीं जानते। उन्हें याद करनेवाले हज़ार में एक–दो ही होंगे, सो भी मुश्किल से मिलेंगे। विश्वास करें बाबू, वेंकटसुब्बय्या जैसे महापुरुष, हज़ारों सालों में एक–आध बार ही पैदा होते हैं। वह भी तब, जब कि देश का पुण्य फलता है। गवैये तो आज भी हैं, तब भी थे। लेकिन कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगू तेली! जिन्हें सा...रे...ग...म तक कहना नहीं आता, वे अपने को आज 'दरबारी–गवैया' मान बैठे हैं और ज़रीदार रेशमी दुशाला ओढ़े इठलाते फिर रहे हैं। भंड्रूरे की तरह चीख़नेवाले 'हार्मोनियम' को बजानेवाला भी बड़ा संगीतज्ञ है! इसमें उन बेचारों का दोष भी क्या है? अगर कोई अच्छा गानेवाला निकल भी गया तो सुननेवाला कौन है? समय का प्रभाव ही कुछ ऐसा है। हमारे पूर्वज संगीत को आध्यात्मिक प्राप्ति का साधन मानते थे और इसी दृष्टि से उसे सीखते-सिखाते भी थे। आजकल लोग उसे पेट भरने का साधन बनाकर सीखते-सिखाते हैं। इनकी और उनकी क्या तुलना?" कड़ुए स्वर से यह कहकर बाबा चुप हो गये। मैं चुपचाप सुनता रहा, कुछ नहीं बोला। मैंने सोचा कि उन्हीं को आगे बढ़ने दो।

कुछ देर ख़ामोश रहने के बाद उन्होंने फिर कहानी शुरू की—"बूढ़ों की बात पियक्कड़ की चाल की तरह इधर-उधर भटक जाया करती है। तुम बुरा न मानना, बाबू। हाँ, कहते हैं कि वेंकट-सुब्बय्या और हमारे घरवालों में काफ़ी घनिष्टता थी। उनके पिताजी राज-जोतिषी थे और हमारे पिताजी पुजारी। हिडिंबेश्वर, एकनाथेश्वरी, संपिगे सिद्धेश्वर और बस्ती की उच्चंगम्मा के मन्दिरों की पूजा हमारे ज़िम्मे थी। ज्योतिषी और पुजारियों के प्रति, उस समय लोगों के मन में बड़ी श्रद्धा थी; और वे लोग वैसे ही थे भी। भगवान के परम भक्त; प्रसङ्ग आ पड़ने पर अपना सिर काटकर भेंट कर-देने वाले।"

"ये सब कहने-सुनने की बातें हैं, बाबा। कौन हुआ है ऐसा?" मैंने पूछा। शायद मेरी बात ने उन्हें छेड़ दिया। वे तुरंत बोल उठे—"लम्बी-चौड़ी हाँकना आज-कल वालों का काम है, बाबू। उस समय के लोग जो कहते, वैसे कर दिखाते थे। तुमने कहा न कि सिर काटकर धरनेवाला कौन हुआ है? सुनो, मैं तुमको वेंकट-सुब्बय्या के ज़माने की ही एक घटना सुनाता हूँ। संपिगे सिद्धेश्वर जाते समय, रास्ते में पाण्डव-विमान मिलते हैं। वहाँ एक रंगीन पाषाण-प्रतिमा है। तुमने उसे देखी है? शायद देखी होगी।"

"कौन सी?"

"वही, जिसे लोग बलिदानी वीरण्णा की मूर्ति कहते हैं।"

"हाँ, देखी है।"

सचमुच मैंने वह पाषाण-प्रतिमा देखी थी। अब वह कहीं-कहीं से टूट गई है। मूर्ति में, एक आदमी अपने दायें हाथ में छुरा और

बायें हाथ में अपना कटा हुआ सिर थामें खड़ा है। सिर पर जटा और मुँह पर दाढ़ी है। उसने अपने ही हाथों अपना सिर काट-लिया था—यह साफ़ दिखाई देता है। मुरुगेन्द्रप्पा ने मूर्ति का जो नाम बतलाया था, वह भी मुझे मालूम था। लेकिन उसके बारे में ज़्यादा बातें मालूम नहीं थीं।

"यह तब की बात है, जब दुर्ग के अंतिम नायक गद्दी पर बैठे थे। वीरण्णा, मेरे परदादा लगते हैं। वे भगवान हिडिंबेश्वर के पुजारी थे। आदमी क्या था, बस हीरा ही समझो। सिर्फ एक ही ख़ामी थी उनमें। पत्नी के अलावा उनकी एक उपपत्नी भी थी। वे उसे पत्नी से भी ज़्यादा चाहते थे। रोज़ रात को जब वे मंदिर से लौटते, तब उसे फल-फूल वग़ैरह ले जाकर दिया करते थे। कई वर्षों से ऐसी व्यवस्था थी।"

"नायक, दिन में दो बार पूजा के समय मन्दिर पधारते। यह उनका नियम-सा था। वे जब आते तो सभी मन्दिरों में जाकर भगवान के दर्शन करते, फूल-प्रसाद आदि लेते और वापस अपने महल लौट जाते थे। उनके महल से रवाना होते समय क़िले से तुरही बजा करती थी। इससे सब को उनके आगमन की सूचना मिल जाती और वे आवश्यक प्रबन्ध करके तैयार हो जाते।"

"हिडिंबेश्वर के मंदिर में महाराज के आने तक पूजा की सभी तैयारियाँ हो जातीं। उनके आते ही महामङ्गलारती होती और फूल-प्रसाद आदि बँटता। प्रायः सभी मंदिरों में यही प्रथा थी।"

"एक दिन, वीरण्णा यानी मेरे परदादा पूजा की सब तैयारियाँ कर, महाराज के आने की राह देख रहे थे। पर महाराज के

आने में कुछ विलम्ब हो गया। क़िले से बजनेवाली तुरही की आवाज़ बड़ी देर तक नहीं सुनाई पड़ी। अब वीरण्णा बड़ी दुविधा में पड़ गये। रात काफ़ी हो चुकी थी। एक तरफ़ पहाड़ पर की ठिठुरा देनेवाली पहाड़ की ठंड थी और दूसरी तरफ़ रोज़ की तरह समय पर न जाने से 'उसके' नाराज़ हो जाने का भय — दोनों ने उन्हें घर दबाया। फिर भी इस आशा से कि महाराज अब आते हैं, तब आते हैं — वे अपने मन को समझाते रहे। यहाँ तक कि कोतवाली से आधीरात के टकोरे सुनाई पड़े। लेकिन महाराज के आने का पता तक नहीं था। देखते-देखते आँखें थक चुकी थीं और कब तक राह देखी जाती?"

"जब वे बिलकुल थककर ऊब गये तब उन्होंने सोचा कि संभव है किसी विशेष कारण से महाराज नहीं आये हों; अतः क्यों न अपन भी चल दें? पर जाने का निश्चय करने के बाद भी वे न जा सके। क्योंकि महाराज जब राजधानी में रहते हैं, तब मंदिर जाने से नहीं चूकते। फिर वे चाहे जिस स्थिति में हों। इतनी देर होने पर भी महाराज का न पहुँचना उनकी चिंता का कारण बन गया था। आखिर बात क्या है — यह उनकी समझ में नहीं आई। कहीं राजकाज में फँस गये हैं या तबीयत ठीक नहीं है, जो अब तक नहीं आये — सोचने लगे। अंत में महाराज की मंगल-कामना करते हुए उन्होंने महामङ्गलारती की और फिर दूध-फल-फूल लेकर अपनी चहेती के घर की ओर चल पड़े जो उनकी राह में पलकें बिछाए बैठी थी।"

"उसका घर वहीं मंदिर के पास था। घर पहुँचकर उन्होंने अपनी प्रियतमा को फूलों से सजाया, उसके साथ भोजन किया और

सोने के लिए चले गये। अभी आँख लगने ही वाली थी कि उसी समय, आधीरात का सन्नाटा चीरती हुई, तुरही की गंभीर-ध्वनि प्रगट हुई। वे तुरही की आवाज़ सुनकर थर-थर काँपने लगे। महाराज की यह आज्ञा थी कि जब तक वे मंदिर आकर आरती-प्रसाद न ले लें, तब तक पुजारियों को वहीं रहना चाहिए। वे जितने उदार थे उतने ही कठोर भी। पुजारियों के प्रति उनके मन में बड़ी श्रद्धा थी। वे उन्हें भूसुर मानते थे। दान-दक्षिणा की यह हालत थी कि ख़ज़ाना ही लुटा देते थे। एक बार यदि किसी पर उनकी कृपा दृष्टि हो गई तो बस, उसकी चार पीढ़ियाँ घी-दूध से हाथ धो सकती थीं। वे ऐसे उदारमना थे। किन्तु किसी से अपराध हो जाने पर तो उसका सिर तक कटवा लेते। पुजारी भी ऐसे ही दर्जे के थे। वे आज-कलवालों की भाँति, पृथ्वीनाथ और जगन्नाथ, दोनों की आँखों में धूल झोंककर जीनेवाले लोग न थे। इन आज-कल के पुजारियों की बात छोड़ दें। ये तो अन्नाभाव से त्रस्त होने पर, कंगाल बन, मंदिरों में घुस जाते हैं। भगवान के नाम पर लोगों को ठगकर अपना पेट पालते हैं। किन्तु वह श्रद्धा-भक्ति का युग था।"

"अरे, बात फिर कहीं की कहीं चली गई! मैं क्या कह रहा था बाबू?....हाँ....ठीक। जब वीरण्णा सोने के लिए चले गये तब क़िले से तुरही की आवाज़ सुनाई पड़ी। वे हड़बड़ा कर उठ बैठे। अपनी प्रेयसी के सिर से फूलों को समेट कर, एक ही साँस में मंदिर की ओर दौड़े। नायक का परिवार उस समय संपिगे सिद्धेश्वर के मंदिर में दर्शन कर रहा था। वीरण्णा ने

उन्हें उस मंदिर में देखकर जल्दी से हिडिंबेश्वर का श्रृङ्गार कर दिया और जब तक वे वहाँ से यहाँ आये, तब तक आरती सजाकर उनकी प्रतीक्षा करने लगे।"

"थोड़ी देर बाद महाराज- अपने परिवार–सहित वहाँ पधारे। विधिवत् पूजा–आरति समाप्त हुई। वीरण्णा ने महराज को आरती, चरणामृत और प्रसाद दिया। मंदिर में सैकड़ों दीप और कितनी ही मशालें जगमगा रही थीं। दिनका-सा प्रकाश हो रहा था। महराज ने फूल और प्रसाद को अपनी आँखों से लगाया। उस तीव्र प्रकाश में, उनकी दृष्टि, सहसा एक बाल पर पड़ गई। उसे हाथ से निकालकर देखा, वह किसी स्त्री की वेणी का लम्बा-सा केश था! देखते ही देखते उनका मुख कठोर हो गया। उनकी बदली हुई मुखाकृति देखकर वीरण्णा घबरा गये।"

"पुजारी जी, प्रसाद में बाल कहाँ से आगया?" महाराज ने तने हुए स्वर में पूछा।

वीरण्णा के होश उड़ गये। क्षण भर उन्हें कुछ भी नहीं सूझा। फिर सँभल कर बोले — "महाराज, भगवान की जटा का है।"

"भगवान की जटा का, किस भगवान की?"

"हिडिंबेश्वर की जटा का केश, महाराज।"

"पुजारी जी झूठ बोलना कब से सीख गये हैं।" इस बार नायक का स्वर अधिक कठोर था।

"झूठ कहनेवाली जीभ को काटकर कुत्ते को खिला दें, महाराज। भगवान के प्रसाद से पला हुआ यह सेवक झूठ नहीं कहता।"

"झूठ नहीं कहता" नायक ने पुजारी के शब्द दुहराते हुए कहा — "फिर भी कह रहे हैं कि यह हिडिंबेश्वर की जटा का बाल है। पुजारी जी, सौ दिशाओं में देखनेवाली आँखों से कभी भूल होना संभव है। ऐसी ग़लती क्षमा योग्य भी है। लेकिन सोच समझकर कहनेवाली जीभ अगर झूठ बोले तो सहना कठिन हो जाता है।"

"मैं पहले ही निवेदन कर चुका हूँ महराज कि मुझे झूठ बोलना नहीं आता।"

"तो क्या.... शिला-लिंग के सिर पर चोटी है?"

"आपकी दृष्टि में वह शिला-लिंग है, मेरी दृष्टि में नहीं।"

"तो क्या हम भी भगवान की चोटी देख सकते हैं?" महाराज ने चिढ़कर पूछा। उस समय वेंकटसुब्बय्या भी महाराज के साथ थे। बात बिगड़ती देखकर वे बोल उठे — "महाराज, भगवान के विषय में जाँच पड़ताल करना ठीक नहीं। हो सकता है, उन्हें जो दिखाई दे, वह आप को न दिखाई पड़े। इतनी चर्चा वृथा है, महराज।"

"वेंकटसुब्बय्या, यदि हमें भगवान का बाल दिखाई दे सकता है तो उनकी चोटी भी दिख सकती है। हम से भूल होना स्वाभाविक है। किन्तु भगवान के विषय में झूट कहना क्या उचित है? उस एक बाल के विषय में पुजारी जी ऐसी चर्चा क्यों कर रहे हैं! संभव है उसमें फूल लानेवाली मालिन का बाल भी हो सकता है। ये कह सकते थे कि आँखों से भूल हो गई। हम मालिन को सावधान कर देते कि भविष्य में ऐसी उपेक्षा न हो। बस, विषय का यहीं अंत हो जाता।"

"यह मालिन का अपराध नहीं.......महाराज।" वीरण्णा बीच में बोल उठे।

"तो आप की ही ग़लती है......।"

"महाराज, मुझे जो कुछ कहना था उसे पहले ही बतला चुका हूँ। आप उसे सच मानें या झूठ, मालिक की मर्ज़ी।"

"तो इसकी परीक्षा क्यों न हो जाय?"

"जैसी प्रभु की इच्छा।"

"यदि मूर्ति के सिर पर जटा न हुई, तो?"

"आप मेरा सिर काट सकते हैं, महाराज।" वीरण्णा ने दृढ़-स्वर से कहा। उनकी आवाज़ में तनिक भी घबराहट न थी।

"सबने शर्त सुनली है न?" महाराज ने चारों ओर अर्थ-पूर्ण दृष्टि से देखकर पूछा। सब लोगों के चेहरे पीले पड़ गये। इस बात की किसी को कल्पना तक न थी कि मामला इतना बढ़ जायगा। महाराज के विरुद्ध कुछ कहने का साहस भी किसी में न था। सब मोम की गुड़िया बने खड़े थे। हाँ, वेंकटसुब्बय्या अवश्य कुछ बोल सकते थे। क्योंकि महाराज में और उनमें काफ़ी घनिष्ठता थी। अतः उन्होंने ही कहा—"महाराज, इस परीक्षा से कल्याण नहीं होगा। मेरे गाते समय माँ मेरी आँखों के सामने मूर्त हो जाती है। मैं उसे देख सकता हूँ। पर आपको दिखाई पड़ती है क्या? नहीं। जब आप यह मान लेते हैं कि माँ मुझे दिखाई देती है, तब आप इस बात को क्यों नहीं मान लेते? पुजारियों से छिपा रहने वाला कोई देव है? मैं कहना चाहता हूँ कि भगवान

और उसके भक्त पर अविश्वास न करें। इस समय कोई विषम घड़ी जान पड़ती है। ऐसी बातों को बढ़ाना श्रेयस्कर नहीं। अब एकनाथेश्वरी के मंदिर पधारें। वहाँ के पुजारी भी आप की राह देख रहे होंगे।"

"वेंकटसुब्बय्या, जब वे स्वयं चोटी दिखाने के लिए तैयार हैं, तब हम क्यों न देखें?" नायक ने ज़िद पकड़कर कहा।

"हाँ, यह ठीक है कि उन्होंने दिखाने का कहा है। यह उनका बड़प्पन है। लेकिन आप का यह कहना कि इसकी परीक्षा करली जाय — इसके औचित्य में सन्देह है।"

"नहीं वेंकटसुब्बय्या जी, यह नहीं होने का।" मेरे परदादा ने उन्हें बीच में ही रोककर कहा — "महाराज मेरी परीक्षा ज़रूर लें। गौरव या विश्वास के कारण यदि वे परीक्षा नहीं लेते, तो उनके मन में संदेह रह जायगा। जब प्रभु के मन में मेरे प्रति शंका उत्पन्न हुई, तभी मानों मेरी मौत होगई। उन्हें अपनी शंका का समाधान कर लेने दीजिए। वर्ना, मिथ्या-भाषी जिह्वा को बढ़ावा मिल जायगा। असत्य-पूर्ण जीवन भी कोई जीवन है? जो कुछ होना है, उसे अभी हो जाने दीजिए।"

एक ओर हठी नायक और दूसरी ओर बात का धनी पुजारी— इन दोनों के बीच में बेचारे वेंकटसुब्बय्या बुरी तरह फँसे थे। उनकी अंतरात्मा चीख़-चीख़ कर कह रही थी — 'ज़रूर कुछ भूल हुई है।' उन्हें लगा — 'यदि यह विषम घड़ी टल जाय तो शायद सर पर मँडराते, विपदा के बादल भी छँट जायँ। वे बोले — 'यदि आप दोनों की यही इच्छा है, तो परीक्षा हो जानें दीजिए। पर अभी

नहीं। दिन में, दस आदमियों के सामने हो। ताकि कोई यह न कह सके कि रात का समय था, क्या पता क्या किया।'

सब को उनकी बात उचित जान पड़ी। नायक अपने मन में असंतोष लिये महल लौट पड़े। वे एकनाथेश्वरी के मंदिर भी नहीं गये।

महाराज के चले जाने पर, वीरण्णा, गोपालस्वामी के कुंड पर गये, खूब स्नान किया, फिर गीले वस्त्र पहने ही मंदिर में आये और मूर्ति के सम्मुख आसन जमाकर बैठ गये। उधर वेंकटसुब्बय्या, नायक को महल पहुँचाकर वापस दौड़े-दौड़े वीरण्णा से मिलने आये। उन्हें हमारे परदादा की सभी बातें भली-भाँति मालूम थीं। किसी प्रकार का दुराव-छिपाव नहीं था। ऐसा था उन दोनों का जीवन। आज नायक काफ़ी देर से मंदिर आये थे। इसलिए यहाँ क्या हुआ होगा इसकी वे सहज ही कल्पना कर सकते थे। लेकिन अब उन्हें भी यह नहीं सूझ रहा था कि आगे क्या किया जाय? ड्योढ़ी में पैर रखते ही, वे बोल पड़े—"वीरण्णा, यह क्या राई का पहाड़ बना दिया तुमने?"

"मैं कुछ नहीं जानता। मुझसे भगवान ने जो कहलवाया, मैंने कह दिया। क्या वे मेरे शब्द थे? अब देखूँ, मेरी लाज रखता है कि नहीं। मैंने इतने दिनों तक उसकी निष्ठापूर्वक सेवा की है। आज यदि वह अपने बेटे का हाथ छोड़ भी देता है, तो सिर्फ़ सिर ही तो जायगा; और क्या होगा? जाने दो।" वीरण्णा ने निर्विकार भाव से उत्तर दिया।

"सचमुच यहाँ तक बात पहुँच गई है, वीरण्णा। इसी लिए मैं दौड़ा हुआ आया।"

“क्यों ?”

“मैंने भी उसकी कुछ सेवा की है, मैं भी कुछ निवेदन करूँगा।”

“नहीं वेंकटसुब्बय्या, मेरे लिए तुम क्यों अपनी तपस्या घटाते हो।”

“यह नहीं हो सकता। तुम शिवोपासक हो। मैं माँ का सेवक हूँ। आज दोनों प्रार्थना करेंगे। अच्छा, अब तुम पूजा में बैठो, मैं अभी स्नान करके आता हूँ।” यह कहकर वेंकटसुब्बय्या तुरंत निकल पड़े। उन्होंने वीरण्णा की एक न मानी। वे भी तुरंत नहा-धोकर आ गये। इधर वीरण्णा ने कटार हाथ में ली। उस पर कुंकुम लगाया। फिर उसे हिडिंबेश्वर के चरणों में रखते हुए बोले—“आज या तो अपनी चोटी दिखाओ; या फिर मेरा शीश ले लो।” इतना कहकर वे ध्यान में लीन हो गये। उधर वे, इधर ये। एक ओर ध्यान और दूसरी तरफ़ गान। रात भर दोनों भक्त डटे रहे। किसी को होश न था। पूरब दिशा में जब धीरे-धीरे लाली फैलने लगी, तब किसी ने घंटा-नाद किया। मेरे परदादा ने आँखें खोल कर देखा कि भगवान, शिवलिंग के मस्तक पर, सर्प के रूप में प्रत्यक्ष हुए हैं। ‘लो तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हुई’ का संकेत करता हुआ वह सर्प, मूर्ति के दायें हाथ का फूल गिराकर अदृश्य हो गया। उस समय उनके आश्चर्य का कोई ठिकाना न था। उसी समय वेंकटसुब्बय्या ने भी प्रसन्न होकर नेत्र खोले और आनन्दातिरेक में आकर बोले—“लो, भाई वीरण्णा, तुम्हारा काम बन गया। माँ ने अपनी चोटी दिखाने का कहदिया है।”

"हाँ, मुझे भी मेरे प्रभु ने, सर्प-रूप में दर्शन दिया है। तुम्हारी प्रार्थना उन्हें मान्य हो गई।" मेरे परदादा प्रसन्न होते हुए बोले।

"भाई, वाह! यह कैसी बात — भगवान को तो तुम्हारी पूजा स्वीकार हुई है। अच्छा, अब तुम प्रातःकालीन पूजन की व्यवस्था करो। मैं तब तक ज़रा घर जाकर स्नान आदि से निपट लूँ। माँ को झटपट देशाक्षी सुनाकर उदय-आरती कर आऊँ।" यह कहकर वेंकटसुब्बय्या ने भगवान को साष्टांग प्रणाम किया और घर की तरफ़ चल पड़े।

प्रातः पूजा की बेला आगई। नायक पाँच-दस प्रतिष्ठित व्यक्तियों को साथ ले मंदिर आ पहुँचे। किसी के मन में उल्लास न था, उत्साह न था। अब क्या होगा? — इसी विचार से सब घबरा रहे थे, चिंतित थे।

नायक ने वीरण्णा से पूछा — "भगवान के दर्शन कर सकते हैं?"

"जी, अवश्य।"

पर देवी के विग्रह स्थल तक कौन जाय — इस की चर्चा होने लगी। उसी समय वेंकटसुब्बय्या भी आ पहुँचे। विषय मालूम होने पर उन्होंने चुभती आवाज़ में कहा — "महाराज को स्वयं पधारना चाहिए।"

"हमारे, अंदर जाने से गर्भ-गृह अपवित्र नहीं हो जायगा?"

"वह तो तभी अपवित्र हो चुका है, जब महाराज ने भगवान के प्रति सन्देह प्रगट किया। अब शायद रक्त से उस अपवित्रता को

दूर करना होगा।" वेंकटसुब्बय्या ने उत्तर दिया। उस दिन उनकी वाणी में बहुत तीखापन आ गया था।

उनकी बात से और बात करने के ढंग से, नायक का मन विचलित हो उठा — ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार हवा के झोंके से दीपक विचलित हो उठता है।

"हमने भगवान पर सन्देह नहीं किया।"

"भगवान के सेवक पर तो अविश्वास किया न! दोनों एक ही बात है, महाराज। अंदर पधारिये।" उनकी ध्वनि में आज्ञा-भाव भरा था। यह सुनकर नायक की छाती भी धड़कने लगी।

"वेंकटसुब्बय्या, क्यों न आप ही देखकर हमें....।"

"यह नहीं हो सकता महाराज, बिलकुल नहीं। सन्देह-ग्रस्त नेत्रों को ही अपनी शंका का निवारण करना चाहिए। अन्यथा संभव है, आज पुजारी पर जो सन्देह है, वही कल मुझ पर भी हो सकता है।"

वेंकटसुब्बय्या का कथन निरुत्तर करदेनेवाला था। सब ने उसका, सिर हिलाकर समर्थन किया। अंत में निरुपाय हो, नायक ने ही धीरे-धीरे और डरते हुए गर्भगृह में क़दम रखा; मानो साँप की बाँबी में हाथ डाल रहे हों।

मेरे परदादा ने हिडिंबेश्वर के चरण छूकर 'भगवान्, तुम्हीं मेरे नाथ हो' कहा और उनके मस्तक पर से फूल हटा दिये। महाराज ने स्वयं छूकर देखा कि सचमुच लम्बे, चिकने, काले-काले और रेशम जैसे कोमल बाल थे। वे चौंककर पीछे हट गये, जैसे अग्नि-स्पर्श हो गया हो।

"इन बालों को खींचकर देखलें महाराज। कहीं पुजारी ने कृत्रिम केश-राशि न चिपका दी हो।" वेंकटसुब्बय्या ने निर्भीक होकर कहा। ये शब्द कोड़े की फटकार के समान थे। वीरण्णा मूक बने खड़े थे। उनकी आँखों से लगातार आँसू झर रहे थे। नायक भी ठगे से, बुत बने खड़े रह गये।

"महाराज, चुप क्यों हैं? परीक्षा पूरी होनी चाहिए। अगर आप में साहस नहीं है तो लीजिए मैं केश खींचता हूँ।" कहकर वेंकटसुब्बय्या ने भगवान के मस्तक पर शोभती केश-राशि का गुच्छा ज़ोर से खींचा। उनकी मुठ्ठी में बाल आगये। उसी समय खून का फ़व्वारा-सा फूट निकला।

मूर्ति के सिर से रक्त बहता देखकर वीरण्णा 'हा भगवान' चीख़कर लुढ़क गये। महाराज का शरीर थर-थर काँपने लगा। वेंकटसुब्बय्या आवेश में भरे खड़े रहे।

"मन शांत हुआ महाराज?" वेंकटसुब्बय्या ने पूछा।

प्रश्न सुनते ही नायक ने भगवान को साष्टांग नमस्कार किया, मानों यही उसका उत्तर था। दूसरे लोग सुध-बुध खोए खड़े रहे।

"महाराज, आप की शंका मिट गई हो तो अब यहाँ से पधारें। आज पूजा नहीं होगी।" वेंकटसुब्बय्या ने पुनः कहा। उनकी बात सुनकर महाराज मंदिर में से बाहर आ गये। दूसरे लोग भी उनके पीछे-पीछे चल पड़े। तब वेंकटसुब्बय्या ने भगवान की विभूति उठाकर वीरण्णा के माथे पर मली। फिर गर्भगृह का द्वार बन्दकर आप भी बाहर आ गये। उनका चेहरा आग की तरह तमतमा रहा था। वे ध्वजस्तंभ के नीचे, भीम-शिला पर बैठ गये।

इसी बीच यह परीक्षा-प्रसंग नगर भर में फैल गया। मंदिर के आस पास मेला-सा लग गया था। सब के मन में वीरण्णा को देखने का कुतूहल उमड़ रहा था। पर वेंकटसुब्बय्या ने किसी को अंदर नहीं जाने दिया। इधर, लोग मानों अड़-से गये थे — चाहे जितना समय लगे, हम उन्हें देखकर ही जायँगे। वीरण्णा के घरवाले भी रोते-बिसूरते दौड़े आये। लेकिन वेंकटसुब्बय्या ने उनको भी भीतर नहीं जाने दिया। महाराज ने प्रायश्चित्त करने के लिए पूजा सामग्री भेजी। उसे भी उन्होंने — 'कल ले आओ' कहकर वापस कर दी।

मेरे परदादा मंदिर में उसी तरह बेसुध पड़े थे। उन्हें बहुत देर बाद संज्ञा लौटी। दीपक, तेल समाप्त हो जाने पर भी पूर्ववत् जगमगा रहे थे। घण्टा-निनाद अपने आप घोषित हो रहा था। मंदिर, चम्पे की सुगन्ध से महक उठा था। मूर्ति के सिर से उसी प्रकार रक्त टपक रहा था।

"नाथ! मेरा सिर रखने के लिए आपने अपने सिर यह पीड़ा क्यों ली? भगवान, आप के चरणों में मैं क्या भेंट चढ़ाऊँ?" कहते हुए वीरण्णा बिलखने लगे। स्वामी, मैंने अपने सिर की रक्षा के लिए, आप का सिर इन मर्त्यों को दिखलाया। मैं पापी हूँ। झूठ से रक्षित इस सिर का न रहना ही अच्छा है। लीजिए, जिसकी आपने रक्षा की, अब वह आप को ही समर्पित है।" कहकर उन्होंने पिछले दिनवाली, कुंकुम लगी कटार ली, हिंडिबेश्वर के सामने भक्ति-पूर्वक शीश नवाया, फिर अपना सिर काटकर उनके चरणों पर समर्पित कर दिया। मंदिर का अंतरंग भाग रक्त-प्लावित हो गया।

वेंकटसुब्बय्या बाहर बैठे हुए फूट-फूटकर रो रहे थे। उन्हें शायद इस काण्ड का पहले से आभास हो गया था। सदैव की भाँति सायंपूजा के लिए उन्होंने महाराज को कहला भेजा। रक्तमय होने पर भी, मंदिर के अंतरंग भाग से, चम्पक-पुष्प की मधुर सुवास उड़ रही थी। महाराज मदकरी नायक, जिन्होंने रक्त को पानी की तरह बहते देखा था, गर्भगृह में खून की तलैय्या देखकर मूर्छित होते-होते रह गये। वे पाषाणवत् खड़े रहे। उनकी आँखों से अश्रुधारा बह चली।

"महाराज की शंका मिट गई?" वेंकटसुब्बय्या ने पूछा। उनके शब्द तलवार की धार के समान थे।

"हमने इस की कल्पना तक न की थी....।"

"किन्तु लाख मना करने पर भी आपने हठ किया। जो बीसों वर्षों से प्रभु की सेवा कर रहे थे, उन पर अविश्वास किया। उसे कसौटी पर कसा। आज वीरण्णा ने अपने सिर की भेंट देकर अपनी बात प्रमाणित करदी।"

"सचमुच मुझ से बड़ा भारी अपराध हुआ है....।"

"हाँ महाराज, अपराध ही हुआ है। पर जो कुछ हुआ अब वह मंगल-रूप में परिणित हो — यही मेरी मनोकामना है। आज्ञा हो तो मैं अब घर जाऊँ?"

वेंकटसुब्बय्या की बात महाराज की समझ में नहीं आई। बात की अस्पष्टता में उन्हें किसी दूसरे अमंगल की धुँधली-सी झलक प्रतीत हुई। 'हो आऊँ महाराज' यह उनका प्रति-दिन का कहने का ढंग था। पर आज 'चलूँगा' कह रहे हैं। आखिर इस का क्या अर्थ है!

"वेंकटसुब्बय्या, आज आप विचित्र ढंग से बोल रहे हैं। निस्संदेह, हम से अपराध हो गया है। किन्तु आप गुरुजन हैं, हमारा अपराध क्षमा कर, हमें आगे की राह सुझाइये। क्या आप भी हम से अप्रसन्न हैं?"

"महाराज, मेरा यह शरीर, दुर्ग के अन्न से पला हुआ है। भला आप से अप्रसन्न होऊँ?"

"तब आप ऐसा क्यों कह रहे हैं कि "मैं जाऊँगा।"

"यह सच है, महाराज।"

"मतलब, आप हम से नही मिलेंगे?"

"मिलूँगा क्यों नहीं, महाराज? आप के दर्शन अवश्य करता रहूँगा। कभी नहीं चूकूँगा। लेकिन दिल में कुछ और रखकर, मुँह से कुछ और कहूँ, यह मुझ से नहीं हो सकता। प्रभु अन्यथा न समझें। आज मैंने एक सबक़ सीखा है।"

"क्या?"

"वीरण्णा ने इतने वर्षों तक जिस प्रकार भगवान् की सेवा की, उसी प्रकार आप की भी की। पर एक मामूली बाल के कारण आपने अपने विश्वास पात्रों को अलग कर दिया; राजा अपनों को भूल गया, सिर्फ़ भगवान ने उन्हें शरण दी।"

"हाँ, भगवान नहीं भूले....।"

"मनुष्य का भरोसा, खुली हवा में रखे दीप के समान है। पर महराज, भगवान का भरोसा अखंड ज्योति जैसा है। मैंने अब तक आप की सेवा की है। अब कल से मेरी सेवाएँ केवल भगवान को समर्पित होंगी।"

"ठीक, तो क्या हमें अब आप का संगीत सुनने का सौभाग्य भी नहीं मिलेगा?"

"ज़रूर मिलेगा महाराज। मंदिर में कोई भी सुन सकते हैं। परंतु केवल आप के लिए अथवा किसी एक मनुष्य के लिए कभी नहीं गाऊँगा।"

"हम पर इतना क्रोध क्यों, वेंकटसुब्बय्या?"

"क्रोध नहीं महाराज, यह पहले से अधिक स्नेह है। आप के हठ और वीरण्णा के त्याग ने, मुझे परछाँई पर निर्भर न रहकर जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी है। अब मुझे आज्ञा दीजिए।"

"हम, क्षणिक क्रोध के कारण, एक साथ दो गुरुजनों से हाथ धो बैठे।" कहकर महाराज मन ही मन पश्चात्ताप करने लगे। कुछ क्षण रुककर उन्होंने पुनः विनती की — "मैं कोई भी प्रायश्चित करने के लिए तैयार हूँ, मुझे क्षमा कर दें।" पर वेंकटसुब्बय्या टस से मस न हुए। उस दिन जो महाराज से विदा ली, उसके बाद फिर कभी उन्होंने राज महल की ओर नहीं झाँका; न कभी उनके सम्मुख ही गये।

नायक ने उनके अनन्य मित्रों द्वारा उन्हें बुलवाया। लेकिन जब उन्होंने यह उत्तर भेजा कि अगर महाराज को मेरा दुर्ग में रहना पसंद न हो तो मैं दुर्ग भी छोड़ सकता हूँ, वे चुप हो गये।

वेंकटसुब्बय्या नियमित दिनों में हिडिंबेश्वर, एकनाथेश्वरी और उत्सवांबा के मंदिरों में जाकर गाते। वहाँ महाराज भी पधारते, उनका संगीत सुनते और उन्हींके हाथों से प्रसाद लेकर अपने किये पर पछताते हुए लौट जाते। वे भी महाराज से बहुत स्नेह रखते थे।

उन्हें अपने पुत्र से ज़्यादा चाहते थे। फिर भी एक बार जो क़दम उठा लिया उसे कभी पीछे नहीं हटाया।

"नायक, वीरण्णा को कभी नहीं भूले। तुम वहाँ जिस मूर्ति को देख रहे हो, उसे नायक ने ही बनवाई थी। प्रति सोमवार के दिन, जब भगवान की विशेष पूजा होती, उस दिन वीरण्णा की मूर्ति की पूजा करने की भी नायक की आज्ञा थी। लोग भी बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ उस मूर्ति की पूजा करते। साल में एक बार — जिस दिन मेरे परदादा ने बलिदान दिया था उस दिन — उस मूर्ति की विशेष पूजा होती और उत्सव मनाया जाता। लोग आ-आकर उस पर भेंट चढ़ाते। उस दिन नायक स्वयं अपने हाथों उसकी पूजा करते। वेंकटसुब्बय्या भी वहाँ आकर गाते। ऐसा था वह ज़माना बाबू।"

"आज न तो नायक ही रहे और न वेंकटसुब्बय्या ही। वह मूर्ति भी खंडित हो चुकी है। अब वैसे दिव्यात्माओं को याद करनेवाली जनता भी नहीं रही। जब तक हम जैसे दो-चार पके पान हैं, तब तक उन्हें याद कर दो-चार आँसू बहा लेते हैं। जिस दिन हम लोग भी चल बसेंगे, उस दिन खेल ही ख़तम समझो। कोई याद करनेवाले ही नहीं रह जायँगे। इस डर से कि वीरण्णा की मूर्ति की जो दुर्गति हुई है, कहीं वैसी ही दुर्गति वेंकटसुब्बय्या की शिला की भी न हो, मैंने उस पर कई संदूकचियाँ रख दी हैं। लोग बड़े ही नालायक हैं। कहीं उसे भी पैरों से रौंद कर अपवित्र कर बैठें तो क्या हो! तुम ही कहो बाबू, भला उस पर बैठने की योग्यता इन दिनों किस में है?" उन्होंने लम्बी साँस लेते हुए

कहा, पता नहीं थकावट की वजह से या पुरानी स्मृतियों के करवट बदलने के दुःख से।

मैं कुछ बोलने की हालत में नहीं था। वाणी मूक बनी हुई थी। मेरी आँखें प्रत्यक्ष को छोड़, गत वैभव को अपने सामने सजा रही थीं।

सूरज मध्याकाश छोड़कर पश्चिम की तरफ़ हो चला था।

दुपहर की कड़ी गरमी तनिक कम हो गई थी। मेरे मन में कोई मूक वेदना सताने लगी। प्रतिदिन के वे दृश्य, पहाड़, क़िला, बुर्ज़ और मंदिर, सब, जैसे श्रीविहीन एवं सत्वहीन हो खड़े थे। बादलों से मुक्त नीलाकाश और आह की भाँति गरम तथा बोझिल हवा में, जो कभी-कभी चला करती थी, कोई चेतनता नहीं दिखाई दे रही थी। यहाँ तक कि पेड़ों के पत्ते भी निश्चेष्ट होकर हिलने-डुलने की आसक्ति खो बैठे थे। ऐसा लग रहा था, मानों सब के सब, किसी प्रबल आघात से त्रस्त हो मौन खड़े हैं। मेरे शोकाच्छादित हृदय में मचलनेवाले भावों में भी मानों शब्द-प्राण नहीं थे। वहाँ भी ऐसा ही मौन था, जैसा किसी स्वकीय के मरजाने पर घर में छा जाता है। मुझे ऐसा महसूस हो रहा था मानों जिस खंभे के सहारे मैं बैठा था वह भी धीरे-धीरे गल जायगा।

यहाँ क्या स्थिर है? यह सब कुछ नाशवान ही तो है। जिनके भव्य जीवन की एक-एक साँस तक भव्य थी, वह भी तो बर्फ़ की तरह गल गई। उनके विहार और क्रीड़ा-स्थल तथा ये भव्य मंदिर, अब और कितने दिनों तक निष्प्राण-शरीर की भाँति काम आ सकते हैं? मैंने जिन्हें देखा तक नहीं, पर जिनका भव्य

जीवन अंधकार में प्रकाश–पुंज की भाँति, दूसरों के लिए मार्ग–दर्शक रहा; उनकी जीवन–गाथा सुनकर ही मुझे इतनी व्यथा हो रही है। तब इन मृत-प्राय अवशेषों को कितना दुःख हो रहा होगा, जो किसी दिन उन पुण्यात्माओं के जीवन–स्थल बने हुए थे; उनकी हँसी इनके हृदय में गूँजी और उनके सुख–संतोष से ये सँवारे गये। इन अवशेषों को भी उन्हीं के पद–चिह्नों का अनुकरण करने की कितनी प्रबल आकांक्षा होगी ?

मेरी कल्पना सजग हो गई थी। मुझे आशंका हो रही थी कि अवश्य ही किसी दिन मग्न–स्वप्नों के भार से लदा हुआ यह पर्वत अपना बोझ नीचे गिरा देगा . . . . और अंत में पुष्पक-विमान बनकर अरुणाचल की ओर अंतरिक्ष में उड़ जायगा . . . . . ! सहसा, मारे भय के मेरे रोंगटे खड़े हो गये . . . .।

"बाबू, बहुत देर हो गई है।" — मुरुगेन्द्रप्पा ने मेरा ध्यान भंग करते हुए कहा — "अब घर जाकर भोजन कर लो।"

मुझे भी भोजन की याद तक न थी। रुद्रमुनि द्वारा लाया हुआ भोजन पड़ा–पड़ा ठण्डा हो गया था।

"बाबा, आप खा लीजिए। मेरा पेट तो कहानी सुनकर ही भर गया है। आज मेरे कारण आपको बहुत तकलीफ़ उठानी पड़ी।"

"इसमें किस बात की तकलीफ़ ! पुरानी बातें पूछकर तुमने मेरे दिल पर से बोझ हलका कर दिया है। आजकल के लोगों की 'उपेक्षा' मेरे दिल पर पत्थर बनी बैठी थी। यदि लगन से सुननेवाले मिलें तो सुनानेवाले के भी हौसले बढ़ जाते हैं। सुननेवाले के दो कान हों तो सुनानेवाले की चार जीभें निकल आती हैं।"

"ऐसी कहानियाँ हों तो सुननेवालों के भी आठ कान हो जाते हैं, बाबा! ख़ैर, समय काफ़ी हो गया है। पहले आप भोजन कर लीजिए। मैं जितना हो सकेगा उतना सुनकर ही जाऊँगा।"

"ना, ना, बाबू, खाली पेट सुनना अच्छा नहीं। तुम भी भोजन कर लो।"

"अच्छी बात है। हाँ, वेंकटसुब्बय्या की कहानी जाननेवाले इस गाँव में और कोई नहीं हैं क्या?"

"हैं क्यों नहीं? तुमने भी खूब याद दिलाई। जिसकी कथा उसीके मुँह से सुननी चाहिए। गोपालाचार्य को तुम जानते हो न?"

"कौन .... गोपालाचार्य .... ?"

"चन्द्रशेखरय्या की धर्मशाला में वैदिक-पाठशाला चला रहे हैं न .... वे।"

"हाँ, हाँ, मैं उन्हें अच्छी तरह जानता हूँ। भले ही वे मुझे भूल गये हों। लेकिन, वे जो मेरे कान उमेठा करते थे, मैं अब तक नहीं भूल पाया हूँ।"

"वह उनकी ख़ानदानी प्रथा है, बाबू।" बाबा ने हँसते हुए कहा — "उनके पूर्वज, उनकी कई पीढ़ियाँ, इसी काम को करती चली आ रही हैं।"

"कौन–सा काम .... कान उमेठने का?"

"ऊँहुँ, यह नहीं। मैं वैदिक–पाठशाला की बात कर रहा था। उनका वंश ही शिक्षकों का वंश है। पाठशाला की वह भूमि अब भी उनकी संपत्ति है। कहते हैं कि उनके परदादा ने या परदादा के दादा ने वेंकटसुब्बय्या के कान उमेठे थे।"

"क्या वह प्रसंग उन्हें अब भी याद होगा?"

"उसे क्योंकर भूल सकते हैं? उनसे पूछो कि गोपालाचार्य जी, 'कोयल का गीत सुनने' की कहानी क्या है? वे तुम्हें अच्छी तरह सुनायँगे।"

मुझे भी 'कोयल का गीत सुनने'वाली बात याद आई पाठशाला के लड़के जब कभी इधर-उधर ताकने लगते तब आचार्यजी उनके कान उमेठ कर यही पूछा करते—"क्या कोयल का गीत सुन रहे हो?" मैं भी उस पाठशाला में दो-एक माह तक अमरकोश पढ़ने गया हूँ। उस समय 'कोयल के गीत' का अर्थ जानने का कुतूहल नहीं था। पर आज उसे जानने की ज़बर्दस्त इच्छा पैदा हुई है।

"इसका मतलब क्या है, बाबा?" मैंने फिर पूछा।

"इसे तुम उन्हीं के मुख से सुनना। बड़ी रोचक कथा है। शाम के समय उनकी पाठशाला खुलती है, तब जाकर पूछ लेना। अब बहुत देर हो गई है, पहले तुम भोजन कर लो।"

"अच्छी बात है, बाबा। मैं फिर कभी आप से मिलने आऊँगा।" कहकर मैं उठ खड़ा हुआ।

"ज़रा एक मिनट ठहरना।" कहकर वे उठे और भीतर गये। रुद्रमुनि जो भोजन ले आया था, उस में से एक गिलास मट्ठा लाकर मुझे देते हुए बोले—"यह पीते जाओ। खाली पेट पहाड़ उतरोगे तो ज़्यादा थक जाओगे।"

मट्ठा पी चुकने पर 'नमस्ते' कहता हुआ मैं विदा हो गया। चलते समय मेरे पैर नहीं उठ रहे थे, मानों पहाड़ में ही गड़

गये हों। पर मैं उन्हें किसी तरह खींचता हुआ घर की ओर चल पड़ा। उस समय मुझे ऐसा लग रहा था कि वह पहाड़ भी मेरे पीछे-पीछे ही चला आ रहा है। चलते-चलते, मुझे हर घड़ी यह खटका बना रहा — 'इस पवित्र भूमि पर न जाने किस महापुरुष के चरणचिह्न अंकित हैं। कहीं उन पर पैर पड़ जाने से मुझे पाप का भागी न बनना पड़े!' बार-बार यही विचार आ रहा था। भाव-समाधि में लीन हो जाने के कारण इन आँखों से देखते हुए भी मुझे कुछ नहीं दिखाई दे रहा था। क़िले का फाटक, ऊँची दीवारों की दरारें और उन में उगी हुई सूखी घास — सब, सपनों की तरह पीछे छूट गईं। मैं इसी तरह घर पहुँच गया।

...छः

इंतज़ार की घड़ियाँ बड़ी कठोर होती हैं। प्रायः देखा गया है कि जब कभी हम अपने किसी प्रियजन को लेने स्टेशन जाते हैं, उस दिन रेलगाड़ी भी ज़रूर देर से ही आती है। आज मैं संध्या होने की प्रतीक्षा, बड़ी बेक़रारी से कर रहा था और वह थी कि धीरे-धीरे डग उठाती आ रही थी। घड़ी की ओर देखते-देखते आँखें हार गई थीं। पर अंत में जब उसने वैदिक-पाठशाला के खुलने का समय सूचित किया, तो मैं तुरंत कपड़े पहनकर, आचार्यजी से मिलने, चन्नकेशव धर्मशाला की ओर चल पड़ा।

आचार्यजी अभी नहीं पधारे थे। मेरी ही तरह, उनके दो-एक शिष्य भी, पाठशाला का भीतरी आँगन झाड़-पोंछ कर, आसन बिछा, उनके आने की राह देख रहे थे। थोड़ी देर के बाद आचार्यजी पधारे।

वैदिक-पाठशाला छोड़े मुझे दस-बारह वर्ष हो गये थे। फिर भी आचार्यजी में कोई ख़ास परिवर्तन नहीं हुआ था। वे अब भी ज्वार के ठूँठ जैसे ही दुबले-पतले थे। दूर से पहचाना जा सकने-वाला उनका तिलकधारी सूखा चेहरा, वैसा ही था। दो-चार सफ़ेद बालोंवाला गंजा सिर, दिन में कई बार धुलनेवाली मट-मैली धोती,

करचुल पड़ा हुआ, घिसे किनारोंवाला दुशाला — यह सब कुछ उसी प्रकार था। तब से अब तक जो अंतर पड़ा था, वह केवल इतना ही था कि उस दुशाले की उम्र भी आचार्य जी की उम्र की तरह ही ढल चुकी थी।

आचार्य जी ने मुझे नहीं पहचाना। वे मुझे भी कोई शिष्य समझकर जल्दी में बोल उठे — "अरे ओ, गर्दभराज! हाथों को उछालते रहने के बदले यदि पाठ याद करने लगता तो क्या जीभ में छाले पड़ जाते? आलसी कहीं का।"

इतना कहकर उन्होंने यथावत् मंगलाचरण पढ़ा। मुझे बड़ी हँसी आई। बाद में, मैं, उनके एकदम सामने जाकर बोला — "आचार्य जी, कृपा तो है।"

मुझे पहचानने पर, उनका चेहरा कुछ फीका-सा हो गया। बनावटी हँसी से अपनी झेंप छिपाते हुए बोले — "अरे, तुम हो क्या? मैंने तो समझा था कि कोई वेद पढ़नेवाला भैंसा है। इतनी दूर कैसे आ गये! मैं तो समझता था कि अंग्रेज़ी पढ़ने के बाद तुम अपने पुराने अध्यापक को भूल गये होगे। पर भगवान की कृपा से भूले नहीं। यह बड़ी ख़ुशी की बात है।"

"आप को भी कोई भूल सकता है, आचार्य जी।"

"क्यों नहीं, हमें याद रखकर क्या शंख फूँकोगे? आख़िर हमसे लाभ ही क्या है, जो हमें याद रखें? आजकल के लोगों के लिए यह पाठशाला, यह शिक्षा और यह अध्यापक — सब उनके पैरों की धूल है। अंग्रेज़ी पढ़ो तो कुछ काम भी आए। कम से कम दो जून की रोटियाँ ही नसीब हो। भला 'अमर–कोश' रटकर अपने

गले में फंदा डलवाना कौन पसंद करे! मेरे लिए तो यह पूर्वजों की वृत्ति है। इसलिए जब तक जीवित हूँ, तब तक यह सिर पची भी है।"

"नहीं-नहीं आचार्य जी, आप जो सिखाते हैं वह 'अमर-कोश' नहीं बल्कि अमर विद्या है।"

"रहने भी दो इन मुँह-देखी बातों को। मैं ख़ूब समझता हूँ। इसी लिए तो मैंने अपने इकलौते बेटे को कुछ अंग्रेज़ी पढ़ा-लिखाकर डिप्टी साहब के दफ़्तर में बाबू बना दिया है।"

"तब इस पाठशाला का क्या होगा?"

"होगा क्या? मेरे मरने के बाद इसके दरवाज़े पर भी काँटे उगा देना। इस पाठशाला की ज़रूरत ही किसे है? यहाँ न तो कोई देखनेवाला ही है और न कोई रोनेवाला ही।"

इन बातों में, उनके हृदय की व्यथा झलक उठी थी।

"जान पड़ता है, आप बहुत दुखी हैं।"

"और नहीं तो क्या, भाई! अपनी म्युनिसिपालिटी वाले बड़ी उदारता के साथ, साल में तीन रुपयों का अनुदान देते हैं। कहो, उससे किस के नाम पर पिंड चढ़ाऊँ? लाख विनती की, बीसों बार मेंबरों के घर के चक्कर काटे और कितना ही गिड़गिड़ाया कि तीन के पाँच रुपये तो कर दो। आज भी कोई मीटिंग थी। बारह बजे से लेकर अब तक इंतज़ार करवाया। फिर कह दिया कि आज कुछ फ़ैसला नहीं हुआ। मैं क्या करता? भूखा-प्यासा, अपना-सा मुँह ले, वापस आगया। अब तुम्हीं बतलाओ कि इसमें क्या रखा है? किसके लिए छाती पीटूँ। ईश्वरीय विद्या है, इससे दोनों लोक सुधर

जायँगे — यही समझकर यह सीखी थी। पर यह तो सिर पर पत्थर बाँधकर कुएँ में कूदने जैसा हो गया है। छात्रों को इस की ज़रूरत नहीं है और बस्तीवालों का हाल और भी निराला है। इनके लिए यह सब ज़ोर-ज़बर्दस्ती ही है। हाँ, पहले की बात कुछ और थी। 'अमरकोश' पढ़ानेवाले की राज-दरबार तक में इज्ज़त हुआ करती थी। पर अब वह ज़माना कहाँ? आज तो हम जैसे लोगों का कोई हाल तक पूछनेवाला नहीं रहा। यदि ज़माने को बदलता देखकर हमने भी यह काम छोड़ दिया होता तो अच्छा रहता। कम से कम, शान तो रह जाती। अब तो यह हाल है कि न तो छोड़ते ही बनता है, न गले लटकाये ही।"

"ज़माना कभी एक जैसा नहीं रहता, आचार्य जी। पहले वह उस प्रकार का था, अब यह इस प्रकार का है और आगे चलकर कुछ और ही हो जायगा।"

"इस-उस तरह का नहीं, वह इस से भी ज्यादा बुरा हो जायगा, यह निश्चित बात है। जो बच्चा, दूध से न बच सके, वह ज़हर से क्या ख़ाक बचेगा? देखते नहीं, आजकल बच्चे क्या कहने लगे हैं। वे कहते हैं — 'हमें डिब्बे का दूध चाहिए, माँ का नहीं।' ज़माना ऐसा आगया है भाई! हमारा देश, दूसरों के हाथों में चला गया है और हम अपनी विद्या, बुद्धि आदि सब कुछ अपने ही हाथों खो बैठे हैं। हमें अपने लुटने तक की ख़बर नहीं। इस पर भी तुर्रा यह कि हम अपने मन में यह समझ रहे हैं कि हमारे बराबर इस दुनिया में कोई है ही नहीं। सब झूठी शान दिखा रहे हैं। चलो लानत भेजो इस पर।

मैं भी कहाँ का पचड़ा ले बैठा। तुम इतनी मुद्दत के बाद आये हो, मैंने तुमसे तो कुछ पूछा भी नहीं और अपनी ही राम-कहानी छेड़ दी। अच्छा, अब बताओ, कैसे आना हुआ?"

"मैं अपनी बात लेकर बैठ जाऊँ, तो लड़कों का पाठ ही रुक जायगा।"

"रुक जाय तो रुक जाने दो, यहाँ इसकी किसे चिंता है! साफ़-साफ़ कहो न, क्या काम है? यों घुमा-फिराकर कहने की क्या ज़रूरत?"

"आप से एक बात पूछनी थी। जब मैं यहाँ पढ़ा करता था तब आप एक बात कहा करते थे....।"

"एक क्यों, मैं तो हज़ारों बातें कहा करता था। अब तक कोई बात बची है इस खोपड़ी में?"

"हाँ, एक-दो रह गई हैं।"

"अच्छा, अब तुम किसके विषय में कह रहे हो? जो बची है उसके, या जो....।"

"जो बची है, उसी के विषय में। एक दिन 'अमर-कोश' पढ़ते समय मैं किताब में न देखकर कहीं और देख रहा था। तब आपने मेरा कान उमेठकर पूछा था — 'क्या, कोयल का गीत सुन रहा है?' आज मुझे यह जानने की इच्छा है कि उस दिन आपने वैसा क्यों कहा था। क्या मतलब था उसका।"

"कान उस दिन उमेटा था, पर उसकी गर्मी आज महसूस हुई है, क्यों?" आचार्य जी ने ठहाका मारकर हँसते हुए कहा।

“उधर देखो, वह रामू भी इस समय बैठा-बैठा ‘कोयल का गीत’ सुन रहा है। क्यों रे रामू, तेरे कान कहाँ हैं?” उन्होंने कहीं और ताकते हुए अपने एक शिष्य को डाँट बताई। वह तुरंत सँभलकर, कान पर हाथ फेरता हुआ कोश देखने लग गया।

“आचार्य जी, क्या बात थी वह?”

“अरे भाई, तुम्हें बाबा आदम के ज़माने की बात, आज कैसे याद आ गई?”

मैंने प्रस्तुत विषय का प्रसंग और मुरुगेन्द्रप्पा जी ने जो कुछ कहा था, सुना दिया।

पत्थर के हट जाने से, जिस तरह रुका हुआ पानी बह चलता है, उसी तरह उनके मस्तिष्क में पुरानी बातें सजग हो उठीं। साथ ही साथ, उनके सूखे चेहरे पर कोमलता का भाव भी अंकित हो गया। उन्होंने, एक-दो बार गवैयों की तरह खँखार कर गला साफ़ किया। फिर, मानों दूर खड़े, किसी अदृश्य व्यक्ति से कथा प्रारंभ करने की अनुमति माँगकर भाव-पूर्ण स्वर से कहानी शुरु की—

“दरअसल हम ख़ास दुर्ग के नहीं, पराई बस्तीवाले हैं। हमारे पूर्वज मैसूर के थे। वे, नग्न-खड्गधारी भरमण्ण नायक के ज़माने में आकर यहाँ बस गये थे। यहाँ आनेवालों में कस्तूरी रंगाचार हमारे पहले बुज़ुर्ग थे। किसी घरेलू चिंताने उन्हें भरी जवानी में आ घेरा। इसलिए वे मैसूर छोड़, इधर-उधर घूमते-घामते चित्रदुर्ग आ पहुँचे। जब वे कंधे पर झोली लटकाये किसी नये गाँव में पहुँचते, तब किसी मंदिर के चबूतरे पर झोली पटककर जम जाते। फिर कुछ ब्राह्मणों से परिचय कर कथा-वार्ता शुरु

कर देते। अगर कोई ब्राह्मण उन्हें निमंत्रण देता तो उसके घर भोजन कर लेते। लेकिन कहीं जी न लगता तो तुरंत वहाँ से चल देते। वे बड़े ही मस्त मौला थे। जहाँ मन लगा वहीं डेरा डाल दिया — नहीं तो निकल पड़े दूसरे मुकाम की खोज में। अंत में एक दिन इसी तरह भटकते-भटकते चित्रदुर्ग पहुँच गये।"

"क्या तुम समझते हो कि चित्रदुर्ग उस समय भी आज की तरह ऊजड़ था? नहीं, तब यह विशाल नगर था। जिधर देखो उधर मंदिर और ब्राह्मणों के घर थे, जिधर जाओ उधर बाग़-बगीचे और स्नान-संध्यादि के लिए बुलानेवाले सीढ़ीदार कुएँ। बस, आचार्य जी को, जो कई बस्तियों की ख़ाक छान चुके थे, यह नगर पसन्द आगया। फिर क्या था, उन्होंने यहीं डेरा डाल दिया।"

"शुरू में उन्होंने नगर के कुछ ब्राह्मणों को अपनी हालत बतलाई और कुछ दिनों तक ठहरने भर की सुविधा माँगी। सबने उन्हें सहायता दी। भोजन-छाजन का यह हाल था कि कभी किसी के घर खा लिया तो कभी ख़ुद ने बना लिया। इस तरह दस-पंद्रह दिन गुज़र गये। इसी बीच राज-ज्योतिषी श्री नृसिंह जोशी से उनका परिचय हो गया।"

"श्री नृसिंह जोशी, वेंकटसुब्बय्या के पिता थे—ज्योतिष-शास्त्र के प्रकांड विद्वान। आज-कल के ज्योतिषियों की तरह, नक्षत्र भूलकर पंचांग टटोलनेवाले नहीं—भूत, भविष्य और वर्तमान को उँगलियों पर देख-बताने की क्षमता रखनेवाले। वे राजराजेश्वरी देवी के उपासक थे। उनमें पांडित्य के साथ-साथ सद्गुणों का भी सामंजस्य था। उनकी धर्मपत्नी जानकम्मा भी वैसी ही थीं, मानों जोशी जी की भक्ति से

प्रसन्न हो, स्वयं राजराजेश्वरी का अंश ही उन में समा गया हो। वे बड़ी उपकारिणी स्त्री थीं। चाहे ईश्वर भक्ति हो, या ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धा, अथवा पति सेवा हो, या अतिथि सेवा — वे इन सब गुणों में आदर्श थीं। उस दम्पति का जीवन, अभिमानी नारियल के पेड़ का-सा न होकर, अपनी शीतल छाया से पथिकों को विश्राम देनेवाले विशाल-काय वटवृक्ष के समान था।"

"भगवान की कृपा से जोशी जी को किसी चीज़ की कमी न थी। उनके परिवार की सुख-समृद्धि, ईर्ष्या के मन में भी ईर्ष्या की आग लगाने जैसी थी। सौ आदमी उनके घर भोजन करते रहें तब भी संपत्ति में कभी कमी न आ सके। दैव-कृपा, राजानुग्रह आदि सब कुछ था। लेकिन उन के वंश में संतान-सुख बदा न था।"

"तो क्या वेंकटसुब्बय्या उनके सगे बेटे न थे?" मैंने बीच में पूछा।

"क्यों नहीं, वे तो उनके ही लड़के थे — इकलौते। पर उनका जन्म यों ही नहीं हो गया।"

"यह कैसे?"

"मैंने पहले ही कहा न कि उनके वंश में संतान-सुख न था। जोशी जी को, पत्नी के साथ पंद्रह साल रहने पर भी संतान नहीं हुई। संसार में घर-गृहस्थी से दूर भागनेवाले सैकड़ों-हज़ारों मिलेंगे परंतु संतान न चाहनेवाला शायद ही कोई हो। निस्संतान होने की बात दोनों के मन में काँटे की तरह चुभ रही थी, ख़ासकर पुरुषों की अपेक्षा, यह चिंता स्त्रियों को ज़्यादा होती है। तिसपर भी ससुराल को माइका समझनेवाली बहुओं के लिए, यह चिंता दुधारी तलवार हो जाती है।"

"जानकम्मा इस चिंता से बहुत व्याकुल हुई। 'शायद यह मेरे कर्मों का दुष्फल होगा जो इस घर में वंश का कोई नाम लेवा भी न हुआ' — यह सोचकर वह बहुत दुखी हुई। अपने पति के सामने रोना उचित होगा या नहीं, इस भय से, उन्होंने सास को अपना दुखड़ा रो सुनाया। माँ ने अपनी बहू की मनोव्यथा अपने बेटे को बतलाई। पर जोशी जी सुनी-अनसुनी कर चुप रह गये। वे संभवतः भविष्य के लिए भी चुप्पी साध लेते, किन्तु जब निस्संतान होने की बात, दूसरी शादी करवाने तक पहुँच गई, तब घबराकर अपनी पत्नी से बोले — "जानकी, यह कैसा पागलपन है तुम्हारा? बच्चे न होने के कारण शादी पर शादी करते जाने से क्या होगा? यदि संतान-योग हुआ तो कभी तुम्हीं माँ बनोगी। नाहक मन छोटा करने से लाभ?"

"लेकिन पुरुष की यह सांत्वना क्या स्त्री की दुखी आत्मा को बहला सकती थी? जानकी की यह अभिलाषा भी जब असफल हो गई कि उसके पति दूसरा विवाह करलें, तब उसने ज्योतिष की शरण ली। वह अपनी जन्म-कुंडली किसी ज्योतिषी को दिखलाकर यह जान लेना चाहती थी कि उसे संतान-योग है या नहीं? उसके पति देश के एक प्रसिद्ध ज्योतिषी थे। किन्तु उन्हीं की पत्नी, उनके सामने अपनी जन्म-कुंडली रखकर यह पूछे कि मुझे संतान प्राप्ति का योग है या नहीं, कहाँ तक उचित था। पर साथ ही संतान प्राप्ति असंभव जानकर उस कामना को छोड़ देना भी संभव नहीं था।"

"अंत में, सास-बहू मिलकर लिंगा जोशी के पिता के पास जा पहुँची। उन्होंने बताया कि संतान-योग है। ईश्वर की कृपा से

जानकी पुत्र-रत्न की माँ बन सकती है। तब दोनों ने पूछा कि जोशी जी, यह नाग-कोप है या ग्रह-दोष? इस पर उन्होंने उत्तर दिया कि इस बारे में, मुझ से अच्छा नृसिंह ही बतला सकता है, उसीसे पूछ लेना।"

"किसी तरह दस दिनों तक तो रो-धोकर जानकी देवी ने सब्र किया। पर एक दिन अपने पति को प्रसन्न-मुद्रा में देख, उन्होंने आँसू ढरकाकर वह सब बताया, जो बूढ़े ज्योतिषी ने उसे कहा था। नृसिंह जोशी अपनी पत्नी की बातें सुनकर मुस्कुरा पड़े। पर दूसरे ही क्षण उनका खिला हुआ चेहरा गंभीर हो गया। फिर प्यार भरी वाणी में उन्होंने उससे कहा — 'देखो जानकी, इस पूजा करनेवाले हाथ को कभी माँगना नहीं चाहिए। माँ स्वयं प्रसन्न होकर जो कुछ दे उसे 'प्रसाद' समझकर ग्रहण करना चाहिए। इसे छोड़कर अगर हम यह कहें कि क्या हमने तुम्हारी सेवा नहीं की? हमारी आकांक्षा पूरी करो, तो यह बात ठीक नहीं है। यद्यपि मैं समझता हूँ कि करुणामयी माता उसे भी नहीं टालेगी। तथापि वास्तविकता यह है कि हमारे बिना माँगे ही, वह अपने आप प्रसन्न होकर जैसा फल देगी, वैसा फल शायद माँगने पर न दे। तुम्हारे, स्वयं प्रसन्न होकर देनेवाले चुम्बन में और केवल मेरी इच्छा से लेनेवाले चुम्बन में जो अंतर है, वही इस में भी है। इसलिए मैं कहता हूँ कि ज़रा सब्र करो। ख़ुद धरती को तपकर वर्षा होने दो।"

परंतु उस नारी-जीव को यह मान्य नहीं हुआ।

"मैंने कभी आप से कोई चीज़ नहीं माँगी। इसे भी मैं अपने लिए नहीं माँग रही हूँ। मेरी इस एक इच्छा को पूर्ण कीजिए।" उसने विनती की।

"जानकी देवी का दीन मुख, अभिलाषा से इस तरह भर उठा था मानों अगर 'ना' कह दें तो एक दम फट जायगा। जोशी जी की वाणी उस कातरता के सामने गूँगी हो गई। अतः 'जैसी तुम्हारी इच्छा' कहकर उन्होंने मान लिया।"

"उन्होंने विधि-पूर्वक देवी-पूजा और मंडल श्री चक्र की पूजा की। सुब्रमण्य का जप करने के बाद गुरु की शांति की। संतानदाता गुरुग्रह को प्रसन्न किया। इस दम्पति की सेवा से देवी प्रसन्न हुई। फलस्वरूप जानकम्मा गर्भवती हुई और यथा समय एक पुत्र-रत्न की माँ बनीं।"

...सात

शायद एक ही साँस में इतना सब कुछ कह चुकने की थकावट से, आचार्य जी पल भर रुककर, दम लेते हुए फिर बोले—"हनुमान से बड़ी उनकी पूँछ बन गई। मेरा कहानी सुनाना भी कुछ-कुछ ऐसा ही हुआ। कहानी की अपेक्षा उसकी भूमिका ही बड़ी हो गई। है न?"

"यह भी आवश्यक है, आचार्य जी। ये याद रखने लायक बातें हैं, इन्हें सुनने का अवसर फिर कब मिलेगा?"

"हाँ, यह ठीक है। ये बातें वर्षों बाद कभी एक-आध बार याद आती हैं....।"

"फिर क्या हुआ?"

"भाई, तुम्हारी जल्दबाज़ी का कोई ठिकाना नहीं। हाँ.... नृसिंह जोशी के घर एक लड़का हुआ। हमारे पूर्वज, कस्तूरी रंगाचार जब यहाँ आये थे, तब वह लड़का छः साल का हो चुका था। इतनी मिन्नत-मनौतियों के बाद आख़िर जोशी जी के यहाँ एक ही लड़का तो हुआ। सो वह भी कैसा कि चाहा मोती और मिला घोंघा। वह उनके सिरदर्द का कारण बन गया।"

"क्यों — रोगी था क्या?"

"ना, मतलब यह कि मामूली बच्चों की अपेक्षा उसके कुछ और ही रंग-ढंग थे।"

"यानी......?"

"यानी — लड़का बिलकुल गोबर गणेश था — गूँगे की तरह।"

"क्यों, वेंकटसुब्बय्या गूँगे थे?"

"गूँगे का मतलब बिलकुल बे-ज़बान नहीं। बात-चीत करने में इतना होशियार कि सब के कान काट ले। लेकिन वह हमेशा खोया-खोया-सा रहा करता। अगर कहीं जाकर बैठजाता तो फिर उठने का नाम तक नहीं लेता। उसके मुँह से 'ओ' कहलवाने के लिए कम-से-कम छः बार चिल्लाना पड़ता था। वह धरती पर होता, मगर उसका मन दशों दिशाओं में उड़ता रहता। उसके बचपन में, माँ-बाप सोचा करते थे — ज़रा बड़ा होगा तो ठीक हो जायगा। पर बड़ा होने पर भी वही हाल। उन्हें निस्संतान होने की चिंता से कहीं ज़्यादा अब इस लड़के की चिंता रहने लगी। उसी समय हमारे बुज़ुर्ग और नृसिंह जोशी जी में परिचय हुआ। उनकी चिंता देखकर कस्तूरी रंगाचार ने उन्हें तसल्ली दी — जोशी जी, जब घर में एक ही बच्चा होता है तो कभी-कभी ऐसा ही हो जाता है, चार बच्चों के साथ मिलकर खेलेगा तो ऐसी कोई शिकायत नहीं रहेगी।"

"लेकिन आचार्य जी, इस गगन-विहारी के साथ खेलने कौन आयगा? यह मिलनसार हो तब न।"

"जोशी जी, क्या सब बच्चे एक-से होते हैं? इसका स्वभाव ही ऐसा है तो कोई क्या करे। धीरे-धीरे अपने आप ठीक हो जायगा।"

"ठीक है। पर ऐसा होगा कैसे? यह तो घर छोड़कर बाहर ही नहीं जाता।"

"खेलने–कूदने नहीं जाता तो न जाय, पढ़ने तो जा सकता है। क्यों न इसे किसी पाठशाला में ही बैठा देते।" उन्होंने सलाह दी।

"इस सलाह के परिणाम स्वरूप ही कस्तूरी रंगाचार्य को कथा–वाचक से आचार्य बनना पड़ा। स्वयं नृसिंह जोशी ने अपने घर के सामनेवाले हनुमान मंदिर में वेद पढ़ाने के लिए एक पाठशाला खोल दी, ताकि कस्तूरी रंगाचार जी उसके आचार्य बनकर वेदाभ्यास करा सकें। आचार्य जी ज़रा शीघ्र–कोपी थे। वे इस व्यवस्था के लिए जल्दी से राज़ी नहीं हुए। कहने लगे कि जोशी जी, मैं ज़रा चिड़चिड़ा आदमी हूँ। मेरे हाथ और जीभ दोनों ख़राब हैं। भगवान का नाम ले–ले कर किसी तरह बुढ़ापा गुज़ार रहा हूँ। अब दूसरों के बच्चों को मारने-पीटने और डाँट–डपट करने का पाप क्यों अपने सिर लादूँ? ना बाबा, यह काम मुझ से नहीं होने का।"

"उन्होंने इनकार कर दिया। लेकिन नृसिंह जोशी भी अड़ गये। आख़िर आचार्य जी के लाख मना करने पर भी अपने बेटे को पढ़ाने के बहाने वह पाठशाला उनके गले बाँध ही दी। आचार्य जी के लिए वह पाठशाला सन्यासी की लँगोटी * बनगई। इससे पहले वे

---

* यह एक बहु प्रचलित कथा है — किसी आश्रम में एक सन्यासी रहा करते थे। वे जब अपनी कौपीन सूखने के लिए फैलाते तो उसे चूहे आकर कुतर डालते। तब उन्होंने चूहों का त्रास मिटाने के लिए एक बिल्ली पाल ली। अब उसके लिए दूध की ज़रूरत पड़ी। तब वे एक गाय ले आए। अब गाय की सेवा करने के लिए एक लड़क

बिलकुल निश्चित थे। पारी-पारी से ब्राह्मणों के घर भोजन कर लेते और मस्त रहते। पर वैदिक पाठशाला की स्थापना के बाद उसकी सारी जवाबदारी उन्हीं पर आ पड़ी। उनकी घुमक्कड़ी समाप्त हो गई और उनके पैरों में बन्धन पड़गये। इधर जोशीजी ने एक काम और किया। पुजारी श्रीनिवास अय्यंगार की सुपुत्री के साथ उनका विवाह करवादिया।"

"आचार्य रंगाचार जी की आँखों में कृतज्ञता के आँसू उमड़ आये। उन्होंने गद्गद होकर कहा — 'जोशी जी, आपने यह क्या कर डाला, यह तो वही हुआ कि रोज़ा छोड़ते नमाज़ गले पड़गई।' इस तरह उस महान व्यक्ति ने चित्रदुर्ग में हमारे वंश की नींव डाली।"

"अपने मित्र के उपकार से आबद्ध, आचार्य रंगाचार जी ने उनके पुत्र को सुधारने का भगीरथ प्रयत्न किया। लेकिन लड़का गुरु का भी गुरु निकला।"

"यदि वेंकटसुब्बय्या भी साधारण बालकों की तरह नट-खट या ज़िद्दी होता तो आचार्य जी उसके सिर का भूत उतारकर उसे सीधी राह लगा देते। उनके हाथों पिटे हुए लड़के, बड़े होने पर भी उनका नाम सुनकर डर जाते थे। वे डाँटते क्या थे, बस, दहाड़ते थे। उनकी दहाड़ के सामने नगाड़े की आवाज़ भी फीकी पड़ जाती। सिरफिरे लड़के भी उनके नाम से धूज उठते। यहाँ तक कि सपने में भी

रखना पड़ा। समय पाकर वह लड़का बड़ा हुआ और उसकी शादी करदी गई। अब उसके यहाँ बाल बच्चे हुए, बिल्ली को भी बच्चे हुए और गाय का परिवार भी बढ़ने लगा,.....। इस तरह एक कौपिन की रक्षा के लिए ये अगणित झंझटें उत्पन्न होगईं।

उन्हें वे ही वे दिखाई देते। ऐसा ज़बर्दस्त व्यक्तित्व था उनका। लेकिन इस छोकरे के सामने उन्होंने भी अपनी हार मान ली।"

"उस बालक में सिर्फ़ यही एक ख़ामी थी कि जब अध्यापक उसे बारहखड़ी सिखाते या पहाड़े रटाते, तब उसका मन कहीं दूसरी जगह भटकता रहता। लेकिन कंठस्थ पाठ को बड़े मीठे स्वर से, राग के साथ गा सुनाता। उसे सुननेवालों का मन ऐसा मुग्ध हो जाता, मानों किसी ने दूध में मिश्री घोल दी हो। वह गाते-गाते कभी-कभी बीच में रुक जाता। गली में कोई गाय रँभाती, चिड़िया चहकती, पीपल के पत्ते हवा में पायल की तरह खड़काते, या मंदिर से मधुर घंटानाद होने लगता तो वह इस तरह कान लगाकर सुनता जैसे वह उसके लिए पहले ही से तैयार बैठा हो। उसे सुनते ही पढ़ना भूलकर उसी नाद में लीन हो जाता। आचार्य जी पर गड़ी हुई आँखें या तो अपने आप अध-मुँदी हो जातीं या कहीं और गड़ जातीं। उसकी इस दशा पर दूसरे लड़के धीरे-धीरे हँसते, आचार्य जी की आँखें लाल-पीली हो जातीं और उनके हाथ छड़ी टटोलने लगते। किन्तु उसे इन बातों की बिलकुल सुध न रहती। अंत में जब आचार्य जी क्रुद्ध हो, 'वेंकटसुब्बय्या' कहकर गरजते, तब वह इस तरह चौंक पड़ता जैसे किसी दूसरे लोक से उतरा हो। वह घबराई हुई दृष्टि से आचार्य जी की ओर देखता। उस समय उसकी गरदन नीचे झुक जाती और उन्हें इतना क्रोध आता कि उठकर दो-चार बेंत जमा दें। पर दूसरे ही क्षण, जब वे लड़के को भय से पसीना-पसीना होते देखते, उसकी चंचल तथा दीन आँखों को क्षमा याचना करते हुए पाते, तो उनका मन द्रवित हो जाता। कभी-कभी

गुस्से में आकर वे उसे डाँट देते — 'अभागे, तू जोशी जी के यहाँ क्यों पैदा हुआ? शेर के घर सियार . . . . ।"

"उस समय वेंकटसुब्बय्या की आँखों में आँसू छलक पड़ते, जैसे तरीवाली ज़मीन को ज़रा-सा कुरेदने पर भी, पानी निकल आता है। वह भँवर में फँसे जीव की तरह छटपटा जाता। भला ऐसे बालक को कैसे पीटा जाय, उसे किस अपराध की सज़ा दी जाय?"

"पर एक दिन आचार्य जी की सहन-शक्ति का बाँध टूट गया। उन्होंने वेंकटसुब्बय्या को पीट ही डाला।"

"उस दिन आचार्य जी बच्चों को 'सत्यकाम-जावाली' की कथा सुना रहे थे। वे बीच-बीच में सुनाना रोककर, लड़कों से प्रश्न भी कर बैठते — यह जानने के लिए कि बच्चे ध्यानपूर्वक सुन रहे हैं या नहीं? यही उनकी शिक्षा-प्रणाली थी। शुरू-शुरू में तो वेंकट-सुब्बय्या भी बड़े चाव से कहानी सुन रहा था। पर बीच में आचार्य जी के प्रश्न पूछने तक कहीं और खो गया था। उसकी आँखें पीपल पर अटकी थीं। आचार्य जी का पाठ और उनकी कहानी उस वक्त बंदर के लिए अदरक का स्वाद बन गई थीं। यह देखकर उनके दिमाग़ का पारा चढ़ गया।"

"आचार्य जी उसका नाम लेकर गरज उठे। उनकी क्रोध भरी तीक्ष्ण ध्वनि सुनकर वह हड़बड़ाकर होश में आया और उनकी ओर ताकने लगा।"

"मैंने जो सुनाया उसे दोहराओ।" उनकी आवाज़ गाज गिरने से पहले गरजनेवाले बादल की तरह थी। वेंकटसुब्बय्या उनके सवाल का जवाब न दे सकने पर, चुपचाप उनकी तरफ़ देखता हुआ खड़ा रह गया।"

"बताओ, मैं क्या कह रहा था अभी?" आचार्य जी ने उससे पूछा।

"मा....लू....म....नहीं।" लड़के ने डरते-डरते जवाब दिया।

"मालूम नहीं। क्या तू बहरा है या गधा है, जो, कुछ नहीं सुन सकता? मैं इतनी देर से गला फाड़ कर चिल्ला रहा हूँ, सो यों ही है? आज तेरी खाल खींच लूँगा।"

"गुस्से के मारे, आचार्य जी, परशुराम बन गये थे। वे पास में पड़ी एक पतली छड़ी उठाकर, जो नागिन-सी बल खा रही थी, खड़े हो गये। उसकी जगह अगर कोई दूसरा लड़का होता तो इस रूप को देखकर चीखें मारता हुआ भाग खड़ा होता। वेंकटसुब्बय्या को अब तक छड़ी की मार का अनुभव न था। फिर भी वह दूसरे लड़कों को पिटते देखकर उसका अंदाज़ा लगा सकता था। छड़ी देखते ही उसकी आँखें बरसने लगीं। लेकिन वह कुछ नहीं बोला। काँपती आवाज़ से सिर्फ़ इतना ही कहा 'ग़लती हो गई' और हथेली सामने कर दी। बच्चे का हाथ, मारे डर के, पीपल की कोमल पत्ती की तरह काँप रहा था। आचार्य जी पीटने में भी उस्ताद थे। आख़िर बेंत जमा ही दिया। छड़ी की मार हथेली पर पड़ते ही रक्त-रेखा उभर आई। बच्चे ने दर्द के मारे ज़ोर से अपने होंठ दबा लिए। इससे उसके होंठ से भी खून निकल आया। किन्तु उसने आगे बढ़ाया हुआ अपना हाथ, पीछे नहीं हटाया। आँखों से गंगा-जमुना-सी धाराएँ फूट चलीं। चेहरा, मुरझाए फूल की तरह पीला पड़गया।"

"उसकी दशा देखकर आचार्य जी को ऐसा लगा, जैसे बेंत उन्हीं पर पड़ा हो। उस मर्मांतक पीड़ा से उन्होंने पल भर अपनी आँखें मूँद लीं। पर जब उनकी आँखें खुलीं, तो देखा कि बच्चे का हाथ अब भी वैसा ही सामने है। बालक ने दबी ज़बान से फिर एक बार 'ग़लती हो गई' कहा। उसकी बात सुनकर आचार्य जी को अपने ऊपर गुस्सा आया। क्षण भर उसीका मुँह ताकते रह गये। उन्हें यह भी पता नहीं रहा कि कब उनके हाथ से बेंत छूट कर नीचे गिर पड़ा।"

"दूसरे बच्चे, हत-बुद्धि हो, सहमे-सहमे उस दृश्य को देख रहे थे, जैसे मृगझुंड पर शेर झपट पड़ा हो। आचार्य जी का गुस्सा कब किस पर फूट पड़े, इसका क्या भरोसा। 'उस समय हमारी क्या गति हो'— यही सोचकर सब भय-भीत थे। उनकी यह अवस्था देखकर आचार्य जी को दया आगई। उन्होंने इशारे से ही सब को घर जाने का आदेश दे दिया। लड़के घर जाने से भी घबरा रहे थे। पर किसी तरह एक-एक करके खिसक गये। वेंकटसुब्बय्या ज्यों-का-त्यों आँखें मूँदे खड़ा रहा। आचार्य जी की भी आँखें भर आईं। उन्होंने धीरे से अपने शिष्य को छाती से लगाकर दर्द और प्यार भरी आवाज़ में कहा — वेंकटसुब्बू।"

"लड़के ने अपनी मुँदी हुई पलकें खोल कर आचार्य जी के दाढ़ीवाले मुख की ओर देखा। फिर उनकी आँखों की कोर पर तिरते हुए आँसू देखे . . . .।"

"इन पापी हाथों में कीड़े पड़ें; अरे रे, बच्चे को कैसी चोट लगी?" कहते हुए उन्होंने अपने आप को फटकारा। लड़का, जो

अब तक बिना रोए, होंठ चबाता हुआ चुप था, अब प्यार पाकर फूट-फूटकर रोने लगा। कुछ क्षणों तक यही स्थिति रही। फिर आचार्य जी ने सँभलकर बच्चे के आँसू पोंछते हुए पूछा — "बेटा, तू पाठ की तरफ़ ध्यान क्यों नहीं देता?"

"लड़का, उनके सवाल का जबाब न दे, चुप-चाप पीपल की तरफ़ देखने लगा।"

"तू वहाँ एक टक क्या देखता रहता है, कोई चित्र है क्या?"

"देख नहीं रहा था, गुरुजी।"

"फिर?"

"कोयल गा रही थी, मैं वह सुन रहा था।"

बालक का अप्रत्याशित उत्तर सुनकर आचार्य जी को बड़ा आश्चर्य हुआ। कोयल की मीठी आवाज़ उनके लिए नई नहीं थी। उन्होंने बसंत ऋतु में अगणित कोकिलाओं के अनन्त गीत सुन रखे थे। वे सोचने लगे—तो क्या सचमुच उसमें सुध-बुध भुला-देनेवाली शक्ति है? आख़िर उसकी आवाज़ में, इसे ऐसी कौनसी विशेषता दिखाई दी? ऐसा कौनसा आकर्षण प्रतीत हुआ?

"बेटा, उसका गीत सुनकर कोई पढ़ना भी छोड़ देता है?"

"उसका गीत सुनता हूँ तो मुझे कुछ का कुछ होने लगता है गुरुजी।"

"क्या होता है?"

"यही कि उसको सुनता रहूँ।"

"बस?"

"नहीं, गुरुजी।"

"तो, और क्या होता है ?"

"जी चाहता है, मैं भी उसी तरह गाऊँ।"

लड़के की बात सुनकर उन्हें और अचम्भा हुआ। कैसी विचित्र अभिलाषा है इस की ! यह भी कैसा अजीब लड़का है !"

"गुरुजी, कोयल बहुत अच्छा गाती है।" वेंकटसुब्बय्या ने फिर कहा। उसी समय कोयल ने फिर पंचम स्वर में कूक लगाई। शुद्ध पंचम की 'कूक' सुनकर आचार्य जी को भी रोमांच हो गया।

"क्या तू भी वैसा ही गायगा ?"

"जी।"

आचार्य जी को अनुभव हुआ कि शायद इस लड़के के भाग्य में यही लिखा है। उसी समय उन्हें उस लड़के का जन्म-वृत्तांत भी याद आगया। सहसा उन्हें अंधकार में प्रकाश-किरण की भाँति कोई बात सूझ गई। हर्ष से उनके रोंगटे खड़े हो गये। वे सोचने लगे कि संभव है इस बालक के चित्त की परवशता का भी कोई ऐसा ही कारण हो। शायद, अभी से देवी की उपासना शुरु हो गई है। उनके मुँह से कुछ कहते नहीं बना। उन्होंने बच्चे को हृदय से आशीर्वाद देकर विदा किया। फिर सांयकाल के समय आचार्य जी, जोशी जी के घर गये और उन्हें समझाते हुए बोले—"जोशी जी, शायद लड़के के भाग्य में संगीतज्ञ होना लिखा है। पर चिन्ता की कोई बात नहीं। कौन जाने यह उसी विद्या में चमक उठे।"

"हाँ, यह भी हो सकता है। उसके ग्रहों में शुक्र की प्रबलता जो है।" जोशी जी ने कहा।

जानकी देवी अपने मन को ढाढस बँधाते हुए बोली—"आचार्य जी,

मैं तो औरत हूँ। मैं नहीं समझ सकती कि माँ उससे किस रूप में, कैसी सेवा लेगी? पर मुझे तो सिर्फ़ यही खटकता रहता है कि वह दूसरे लड़कों की तरह हँसता-खेलता क्यों नहीं?"

"उसी दिन से आचार्य जी की यह आदत पड़ गई थी कि अगर कक्षा में कोई लड़का पाठ न सुनकर इधर-उधर ताकने लगता, तो वे तुरंत पूछ बैठते—'क्यों, कोयल का गीत सुन रहा है?' बस, उस समय से ये शब्द हमारे वंश में प्रचलित होगये।" गोपालाचार्य जी ने बताया।

... आठ

"यह है वह कहानी। किसीने सच कहा है 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात।' बाल्यावस्था से ही संगीत में असीम रुचि होने के कारण माँ सरस्वती वेंकटसुब्बय्या पर प्रसन्न हुई। इस बात को सैकड़ों वर्ष हो गये। पर आज भी हम वैसे शिष्य को नहीं भूल पाये। अब क्या है, न तो वैसे गुरु ही रहे, न वैसे शिष्य ही। अब तो, विद्या केवल पेट भरने का साधन हो गई है; दो जून की रोटियों के लिए ही इसे सीखते-सिखाते हैं। जैसे अनाज ख़रीदने के लिए कोई बाज़ार जाता है, वैसे ही जीविका का उपाय खोजने के लिए पाठशाला जाते हैं। यही तो करते हैं सब। मानों अब पेट भरने के सिवाय दूसरा कोई ध्येय ही नहीं रह गया है।" गोपालाचार्य जी ने एक लम्बी साँस छोड़कर कहा।

शाम हो गई—इसकी किसी को सुध न रही, न कहनेवाले को और न सुननेवाले को। धर्मशाला के बाहर, क़िले के ऊपर एक धुँधला-सा तारा चमक रहा था। मैं उसी पर ध्यान लगाए आचार्य जी द्वारा सुनाई हुई कहानी का मन में चर्वित-चर्वण करने लगा। यद्यपि मैं यह जानता था कि कहानी समाप्त हो चुकी है। तथापि आचार्य जी से इतनी पूछने की शक्ति भी नहीं रह गई थी कि और भी कुछ बाक़ी है या नहीं?

यह उनके दिव्य जीवन का कैसा भव्य आरम्भ था! जीवन की कली अभी खिलने भी न पाई थी, फिर भी उसमें कैसी सुगन्ध भरी थी! और कली जब खिलकर फूल बनगई होगी, तब उसकी कैसी महक रही होगी, उसमें से कैसी सुगन्ध उड़ती होगी! इस कल्पना में मेरा मन किसी अज्ञात उत्साह से, पंछी की तरह, अज्ञात लोक की ओर उड़ा जा रहा था।

आचार्य जी ने हड़बड़ाकर कहा — "देखो न, बात की बात में शाम होगई। सायं-सन्ध्या का समय भी निकल गया और हमें होश भी नहीं रहा। इन का पाठ भी गया आज।"

लड़के, पाठ और समय—मुझे भी इन तीनों का भान हुआ। मेरा मन, जो रहस्य-लोक की सैर कर रहा था, उनकी बातें सुनकर हठात् पृथ्वी पर उतर आया।

सायं-सन्ध्या की याद आते ही आचार्य जी झटपट उठ खड़े हुए। उन्होंने पास में पड़े हुए वस्त्र झाड़-झटक कर अपने कंधे पर डाले। मैं समझ गया कि वे अब और कहानी नहीं सुनायँगे।

"आचार्य जी, कल सवेरे फिर मिलूँ?" मैंने पूछा।

"क्यों?"

"उनके बारे में अगर आप कुछ और जानते हों तो सुन सकूँ।"

"नहीं भाई, मैं और कुछ नहीं जानता। इतनी बातें भी सिर्फ़ इस घटना के कारण मालूम थीं। नहीं तो मुझे कहाँ से मालूम होतीं!"

"तब क्या आप उनकी जीवनी या संगीत के बारे में कुछ नहीं जानते कि उन्होंने वह कहाँ सीखा, कैसे सीखा आदि?"

"नहीं।"

"क्या इन बातों की जानकारी रखनेवाला इस गाँव में कोई और नहीं है?"

"अगर उनके वंशवाले यहाँ कोई होते तो शायद कुछ बातें मालूम भी हो सकती थीं। लेकिन यहाँ तो कोई है नहीं। पर सुना है कि कुरुमरड़ी गाँव में कोई है।"

"क्या कोई, उन्हीं का वंशज है?"

"नहीं, वहाँ कोई चिन्नप्पा नाम का एक आदमी है। रामलीला वग़ैरह का अभ्यास कराता है। संभव है, उसे कुछ मालूम हो।"

"यानी, कितना?"

"उतना ही जितना कि उसके पूर्वज तबला बजा लिया करते थे। अथवा इससे ज्यादा विषयों को भी जानता हो। तुम उससे मिलकर तो देखो।"

"कुरुमरड़ी—यह गाँव कहाँ है, आचार्य जी?"

"भाई खूब! तुमने उसका नाम भी नहीं सुना? जोगीमठ है न, उसीके आगे।"

"यहाँ से कितनी दूर होगा?"

"यही कोई छः-सात मील। लेकिन पैदल ही जाना होगा।"

"कोई और सुविधा नहीं?"

"अगर पैसे ज्यादा हों तो गाड़ी में भी जा सकते हो। हमारे जैसों के लिए अपने पैर ही गाड़ी का काम देते हैं। जाना ज़रूरी हो तो पैदल ही निकल जाओ। हाँ, अब बहुत देर हो गई है, मैं चलूँगा। अपने पिताजी से मेरा नमस्ते कहना।" यह कहकर आचार्य जी घर चलने लगे। मैं उन्हें प्रणाम कर लौट पड़ा।

उस समय रात हो गई थी। अन्यथा तभी कुरुमरड़ी चले जाने की तीव्र इच्छा थी। किन्तु अँधेरे और जंगल के अपरिचित रास्ते ने मुझे रोक दिया। इसके अलावा जोगीमठ के जंगलों में शेरों का उपद्रव भी कुछ अधिक ही है। चित्रदुर्ग के सभी मैदानी प्रदेश, पत्थर और चट्टानों से भरे हैं। सिर्फ़ जोगीमठ का प्रदेश ही पेड़-पौधों से हरा-भरा है। इसलिए शिवमोग्गा की तरफ़ से निकल आनेवाले तमाम शेरों के लिए जोगीमठ ही आराम-गाह है। वहाँ पानी, छाँव, किसी की कमी नहीं ; और घास की खोज में जानेवाली गौएँ भी उन्हें शिकार के लिए मिल जाती हैं। कई बार तो दिन-दहाड़े उन्हें पशुओं पर झपटते देख, बेचारे चरवाहे भाग जाते हैं। मैंने यह भी सुन रखा था कि रात के समय शेर, जंगलवाले डाक-बँगले के चक्कर लगाकर पहरा देते हैं। ऐसी जगह रात के समय में जाना मेरे लिए असंभव था। मुझे डर लग रहा था। किसी तरह मैंने अपने उमड़ते हुए उत्साह के पैरों में, डर की बेड़ियाँ डालकर उसे चुप करदिया।

एक विशेष प्रकार का, ताँगे का घोड़ा होता है। संभव है आपने भी कभी देखा हो या उसके अनुभव का आनंद भोगा हो। यदि वह बिना खट-पट के चल पड़ता है तब तो उसके सामने इन्द्र का उच्चैःश्रवस भी कुछ नहीं। लेकिन ऐसा न होकर अगर वह कहीं अड़ जाय तो समझ लीजिए कि अब वह पाषाण-प्रतिमा हो गया है। ऐसे समय में उसे चलाने के लिए साक्षात् भगवान को ही आना पड़ता है। मेरे कुरुमरड़ी के प्रवास का अनुभव कुछ-कुछ वैसा ही था। अगर मैं उसी दिन, रात को निकल पड़ता तो शायद निकल ही जाता। पर मैंने सवेरा होने की जो प्रतीक्षा की, बस वही ग़लती हो गई।

दूसरे दिन सुबह उठकर कुरुमरड़ी का रास्ता लेने के बजाय मैं राघवेन्द्रराव जी से मिलने चल पड़ा। मैंने एक ही दिन में जो इतनी जानकारी इकट्ठी कर ली थी, उसे सुनाकर शाबासी पाने की इच्छा प्रबल हो गई थी। मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि जब हमारा मन किसी काम में नहीं लगता है, तब हम कोई सहज और स्वाभाविक बहाना ढूँढ लेते हैं। संभवतः मेरा मन भी उसी जाति का होगा। इसमें शक नहीं कि कुरुमरड़ी न जाने का एक यह कारण भी मेरे सामने था— अपरिचित पहाड़ियाँ, जंगल के रास्ते, छः-सात मील का सफ़र और मेरा अकेला होना। पर मेरे रुक जाने का यही असली कारण था या वह घरेलू काम, जिसे मैं ज़रूरी समझ बैठा था, मुझे मालूम नहीं। रायजी से मिलकर शाबासी पाने के दो-तीन दिन बाद भी मैं उस गाँव की तरफ़ नहीं गया। इधर रायजी से भी नहीं मिला।

अंत में, मुझे जगाने के लिए एक दिन स्वयं रायजी को ही आना पड़ा। उन्होंने पूछा—"कुरुमरड़ी हो आये?"

"घर में कई ज़रूरी काम थे, इसलिए नहीं जा सका।"

"मैं जानता हूँ, 'आरंभ शूराः खलु दाक्षिण्यात्यः'—यह कहावत तुम्हारे जैसों को देखकर ही बनाई गई है। एक दिन तैश में आकर भूखे-प्यासे निकल पड़े और फिर ठंडे होकर बैठ गये। यही हाल रहा तो आगे का काम कैसे होगा? बड़े ग़ैर-ज़िम्मेदार आदमी हो तुम!"

उनकी तीखी बात काँटे की तरह चुभ गई। "रायजी, अगर दो दिन देर भी हो गई तो कौन-सी दुनिया डूब जायगी? इस विषय में जहाँ सैकड़ों साल हो गये हैं, वहाँ दो दिन और सही।" मैंने ज़रा उद्दंड होकर कहा।

"बस, इसीका नाम ग़ैर-ज़िम्मेदारी है। तुम खुद जानते हो, इस, वर्षों से उपेक्षित विषय को, बिलकुल भुला दिया गया था। लेकिन, केवल एक दिन के परिश्रम से ही उसकी कितनी बातें मालूम हो गई हैं! इतना ही नहीं, आगे का रास्ता भी निकल आया है। अगर तुम इस सूरत में भी बेफ़िक्र होकर लेटे रहोगे तो कैसे काम चलेगा?"

"क्यों? यह काम कहीं भाग जाता है क्या?"

"यह बात नहीं, भाई। ज़रा सोचने की ज़रूरत है। मानलो, उनके विषय में चिन्नप्पा को काफ़ी मालूम हो। लेकिन तुम जाने में देर लगा दो और तुम्हारे पहुँचते-पहुँचते उसे कुछ हो गया, तो? अपने पाँव पर आप कुल्हाड़ी चलाने के बराबर होगा या नहीं? आख़िर मनुष्य का भरोसा ही क्या! उस हालत में क्या कर सकोगे? हमें कितनी हानि हो जायगी? यह हानि सिर्फ़ हमारे लिए ही नहीं, सारे देश के लिए होगी। इसलिए कहता हूँ कि ऐसे मामलों में उपेक्षा करना ठीक नहीं है।"

उनकी बात कटु होने पर भी सच थी। इससे कोई भी इनकार नहीं कर सकता था। इसलिए मैं भी चुप हो गया।

"ये सब बातें मेरे समझाने की नहीं हैं। तुम खुद भी सोचकर जान सकते हो। लेकिन सवाल तो यह है कि आख़िर तुम को सोचना कौन सिखाए? यह तो तुम्हें ही करना चाहिए। अगर तुम नहीं जा सकते तो मैं ही चला जाता हूँ। बोलो!"

रायजी की बात मुझे तमाचे की तरह लगी। हठात् मेरे मुँह से निकल पड़ा—"नहीं, नहीं, मैं खुद ही चला जाता हूँ। कल ही जाऊँगा।"

मैंने रात को सोने से पहले, सबेरे उठते ही कुरुमरड़ी जाने की प्रतिज्ञा की।

दूसरे दिन सुबह, मैं अच्छी तरह खा-पीकर कुरुमरड़ी की तरफ़ चल पड़ा। कुछ दूर चलने पर, पाँच-छः मील की दूरी, पचास-साठ मील लगी। रास्ता कटता ही न था। कभी पथ में मिलनेवाले किसानों से कुरुमरड़ी का रास्ता पूछ लेता तो कभी खेत के मेड़ों पर चल देता। बीच में रास्ता भूल जाने पर इधर-उधर भटकने लगता। अंत में इसी तरह चलते-चलते दुपहर के समय अपने गन्तव्य-स्थान पर पहुँच गया।

कुरुमरड़ी गाँव देखकर मेरी थकावट दूर हो गई। बड़ा ही सुहावना गाँव था। वह जोगीमठ के ढलान से सटा हुआ था। उसके बिलकुल किनारे पर बहता हुआ एक पहाड़ी झरना, फैलकर छोटा-सा नाला जैसा बन गया था। उसका निर्मल जल, किसी अप्सरा की चंचल गति के समान, कल-कल निनाद करता बह रहा था। गाँव के चारों ओर सवत, होन्ने, मत्ती और आबनूस आदि पेड़ों का समूह खड़ा था। दूर से देखने पर, गाँव नज़र ही नहीं आता। वह मरुभूमि में बगीचे की तरह शोभा दे रहा था। चित्रदुर्ग के समीप सौंदर्य की ऐसी खान जोगीमठ की ओट में ऐसा सुंदर झरना, बहता पानी और घना जंगल मिलेगा—मुझे इसकी कल्पना तक न थी। एक करंज-वृक्ष की छाँह में बैठकर, जब मैंने झरने के ठंडे पानी में अपनी टाँगें डाल दीं, तो सारी थकावट दूर हो गई। शरीर में फिर नवीन-स्फूर्ति का संचार हो गया। पर जब तप्त शरीर कुछ शान्त हुआ, तो भीतर से भूख ने सिर उठाकर कहा—'मैं भी मौजूद हूँ।' मैंने सोचा—"गाँव में किसी

ब्राह्मण का घर ज़रूर होगा। चलो, पहले भूख शान्त कर लें।" इस विचार के आते ही उठकर गाँव की तरफ़ चल पड़ा।

कुरुमरड़ी गाँव, बाहर से जितना सुंदर दिखाई दे रहा था, अंदर से उतना ही गंदा था। गलियाँ और मकान, गंदगी में एक-दूसरे से होड़ लगा रहे थे। रास्ते में, सामने से आते हुए एक आदमी से मैंने पूछा—"क्यों भाई, चिन्नप्पा का मकान किधर है?"

"कौन चिन्नप्पा?"

"वही, जो रामलीला वग़ैरह खेलता है।"

"आप चिन्नप्पा सुनार की बात कह रहे हैं? यहाँ से पीछे चले जाइये। वहाँ एक बसव-मंदिर मिलेगा। कोई भी उसे बता देगा।" कहता हुआ वह सीधा चला गया, मानों उसने इतनी देर जो बात की, वही ग़नीमत है। मैं उसके बताए हुए रास्ते पर चल पड़ा। मंदिर के पास पहुँचकर पूछ-ताछ की तो पता लगा कि सामने जहाँ ताला लगा पड़ा है, वही उसका घर है। मैं वहीं चबूतरे पर बैठ गया। आने-जानेवाले तीन-चार आदमियों से पूछने पर उन्होंने बताया—"वह कहीं खेल का अभ्यास कराने गया होगा। पता नहीं, कब आय। आजाय तो शाम को ही आ जाय या चार-छः दिन तक भी न आय। उसका क्या ठिकाना? जहाँ कहीं जा बैठता है, वहीं अपना घर बना लेता है।" आदि उपयोगी और अनुपयोगी सब तरह की बातें मालूम हुईं।

मुझे कुछ नहीं सूझ रहा था कि अब क्या किया जाय! घर से चलते समय मैंने सोचा था कि यह एक-दो घण्टे का काम है, इसे निपटा कर शाम तक घर लौट आऊँगा। इसलिए अपने साथ कुछ

लिये बिना ही आगया था। पर अब जो देखा तो बुरी हालत थी। अपनी क़िस्मत बुरी निकल जाय तो एक-दो घण्टे क्या, चार-छः दिन भी चिन्नप्पा की प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है। यह एक विकट प्रश्न था कि यहाँ ठहरा जाय या नहीं?

अगर चिन्नप्पा शाम को आ जाय, तब भी उससे मिलकर घर कब लौटूँ? रात को लौटना असंभव है। फिर यहाँ ठहरूँ भी तो किसके पास? मैं यह सोच ही रहा था कि तभी भूख ने डपटकर कहा—"चाहे कहीं ठहरो, अब मुझे क्या जवाब देते हो?"

भूख की समस्या हल करने के विचार से मैंने किसीसे पूछा—"यहाँ ब्राह्मण का भी कोई घर है?" इस पर उस पुण्यात्मा ने मुझे एक ब्राह्मण के द्वार तक पहुँचा दिया। मैंने तय किया कि सुविधा हुई तो उन्हींके यहाँ ठहर जाऊँगा और फिर शाम को चिन्नप्पा से मिलकर, दूसरे दिन सवेरे अपने घर चलदूँगा।

पर दरवाज़ा खटखटाने के बाद मुझे महसूस हुआ कि मैंने जो सोचा था, वह नहीं होने का। मेरे दरवाज़ा खटखटाने की आवाज़ शायद सारे गाँव ने सुनी होगी। लेकिन दस मिनट तक लगातार ज़ंजीर ठोकने पर भी, अंदर रहनेवालों ने, घर में किसी के होने का भान तक न होने दिया। पहले तो सोचा कि भाड़ में जाने दो, अंदर कोई नहीं होगा। पर बाद में भूख से विवश हो, मैंने दरवाज़ा खटखटाना जारी रखा। अन्त में, काफ़ी देर के बाद कोई पुरुष-ध्वनि कानों में पड़ी—"ज़रा देखना, कोई पाजी घण्टे भर से चिल्ला रहा है।" आगन्तुक के बारे में जानने की अपेक्षा, घण्टे भर तक चुप रहने पर भी 'कोई धूर्त टलने का नाम नहीं ले रहा है।'—ऐसी

उपेक्षा भरी थी उस आवाज़ में। "इस समय और कौन आता है? कोई रोटियों का भूखा होगा, और क्या? गाँव में किसी ब्राह्मण का घर हो तो बस, सब के सब उसके यहाँ रोटियाँ तोड़ने आ धमकते हैं।" किसी स्त्री के मुँह से ये बातें निकलीं। यह आवाज़ इतनी कर्कश थी कि यदि मैंने भोजन कर भी लिया होता तो इसकी याद से खाया-पिया सब वापस निकल पड़ता।

"अरी, चुप रहने पर यह पाजी दरवाज़ा ही तोड़ डालेगा। जाकर कह क्यों नहीं देती कि घर में कोई पुरुष नहीं है।" किसी पुरुषने कहा।

यह सुनकर मुझे अपने ऊपर बहुत क्रोध आया। मैं भी रोटी के टुकड़ों के लिए कहाँ चला आया! पर भूखने कहा — "ज़रा ठहरो, शायद द्वार खोलने पर उन्हें तुम पर दया आ जाय!" मैं फिर द्वार खटखटाने लगा।

अन्त में गृहिणी ने द्वार खोलकर वायुवेग से वे शब्द दुहरा दिये जो भीतर किसी पुरुष ने कहे थे। फिर धड़ाम से दरवाज़ा बंद कर दिया। मैंने दो मिनट तक और दरवाज़ा खटखटाया। पर अंदर से कोई आवाज़ नहीं आई। आख़िर अपने भाग्य को कोसता हुआ वहाँ से चलदिया। समय के साथ भूख बढ़ती जा रही थी। उसे शान्त करने के लिए बसव-मंदिर के पास वाली लिंगायत की दूकान से कुछ खारी मूँगफली, मुरमुरे, नारियल आदि ख़रीदा। फिर वहीं बैठकर खाया। दूकान की मालकिन ने दया करके थोड़ा पानी पिलादिया। यही खा-पीकर मैं गाँव के बाहर चला गया। थका-माँदा तो था ही। वहाँ जाकर एक करंज-वृक्ष की छाया में लेट गया। कोलाहल-युक्त उस गाँव

की अपेक्षा कल-कल निनाद से बहता हुआ वहाँ का नाला और शीतल-पवन भरा कानन-वन मुझे ज़्यादा अच्छा लगा।

उस समय दिल ऊबा जा रहा था। अनुसन्धान न हो तो न सही, जहन्नुम में जाय यह काम। ज़रा सुस्ता लूँ, फिर दुर्ग की ओर चलदूँ — ऐसा निश्चय करके सो गया। बस, मुझे इतना ही याद रहा। बाद में किसी गड़बड़ी से आँख खुली तो देखा कि सूरज डूबने ही वाला है। सैकड़ों मोर झूम-झूम कर नाच रहे थे। मैं उसी तरफ़ देखता रहा। हरिणों का एक झुण्ड एक बड़े टीले के छोर से निकला और देखते ही देखते ओझल हो गया। मयूरों का नृत्य, हरिणों की चंचलता, अस्तमान सूर्य की लाल-लाल किरणें, मृदंग-नाद की तरह गम्भीर-घोष से बहनेवाला प्रपात और दूध जैसे उज्वल फेन उड़ाता हुआ बहनेवाला झरना—ये सब मानों किसी स्वप्न के स्वर्गीय दृश्य थे। मैं इन्हें बहुत देर तक उसी तरह टकटकी लगाए देखता रहा। पर उठकर हाथ-मुँह धोने के कुछ देर बाद मुझे ध्यान आया कि मैं परदेस में हूँ। देखते ही देखते, टीले के उस ओर पश्चिम में, सूरज डूब गया और अँधेरा घना होने लगा। उसके साथ ही अपने गाँव लौटने की मेरी आशा भी समाप्त हो गई। अँधेरे के कारण मन में भय भी पैदा हो गया।

आशा को दीपक की उपमा देना, प्राचीन काव्य-परंपरा है। किन्तु कई स्थानों पर अस्वाभाविक लगनेवाली यह उपमा, आज मुझे सचमुच अच्छी लगी। जब मैं कानन-वन से निकलकर गाँव में चला आया तो देखा कि बसव-मंदिर के समीप, चिन्नप्पा के घर में से, जो दुपहर को बंद था, एक-टिमटिमाते दीपक की रोशनी दरवाज़े के

छिद्रों से बाहर आ रही है। उस प्रकाश को देखकर अँधेरे की तरह फैली हुई मेरी निराशा धीरे-धीरे दूरहोगई। नई आशा से नया उत्साह पैदा हो गया।

मैंने दरवाज़े के पास पहुँचकर उस घर के भीतर झाँका। कोई चटाई पर लेटा हुआ था। पास कोने में तबला और हार्मोनियम रखे हुए थे। अन्त में मैंने आवाज़ दी—"चिन्नप्पाजी।"

उस आदमी ने करवट ली। दूसरी बार जो पुकारा तो उसने दरवाज़े की ओर देखते हुए पूछा — "कौन हैं?" उसकी आवाज थकी हुई और भारी मालूम हो रही थी।

"चिन्नप्पाजी घर में हैं क्या?" मैंने पूछा

"हाँ, मैं ही हूँ। कहिए, क्या काम है?"

मैं घबरा रहा था कि कहीं यह भी मुझे उस ब्राह्मण की तरह उल्टे पाँव न लौटा दे। मैंने फिर पूछा—"अंदर आजाऊँ?"

"आइये।"

मेरे दिल को कुछ तसल्ली हुई। मैं अंदर चला गया।

"बैठिये, क्या काम है मुझसे?"

वहाँ पड़ी हुई बीड़ी, दीयासलाई और राख वग़ैरह रूमाल से झाड़कर ज़रा संकोच के साथ मैं बैठगया।

"चटाई पर आजाइये न। ज़मीन पर ज़रा गर्द है। कहिये, कहाँ से आ रहे हैं, आप?"

"मैं चटाई पर बैठगया। चिन्नप्पाजी भी उठकर दीवार के सहारे टिक गये। बाद में मैंने बात छेड़ी—

"मैं चित्रदुर्ग का हूँ। आज सवेरे ही आप से मिलने आया

था। लेकिन आप यहाँ नहीं थे।"

"जी हाँ, मैं कल शाम का गया अभी-अभी लौटा हूँ। अब तक कहाँ थे आप?"

मैंने सवेरे से उस गाँव में जो कुछ भोगा था, वह सब उन्हें कह सुनाया। जब मैंने ब्राह्मण के घरवाली बात कही, तब चिन्नप्पा ने कड़ुए स्वर में कहा—"शीनप्पा जोशी बड़े कंजूस आदमी हैं। वे ऐसे हैं कि जूठे हाथ कौआ भी न उड़ाएँ। उनकी क्या, सारे गाँव की यही हालत है। भले ही कोई मर जाय, उनकी बला से। यहाँ खुद हमें कोई पूछनेवाला नहीं है; फिर आप जैसे परदेसियों की क्या बिसात? अगर कोई मरजाय तो उस पर दो मुट्ठी मिट्टी तक किसीसे नहीं डाली जायगी। आप बेकार ही ऐसी जगह आगये।"

"यह एक लम्बी कहानी है, बाद में आपसे कहूँगा। पहले, पेट पूजा की बात सुनलें। दुपहर को तो मैंने एकादशी मनाई है। पर इस समय कुछ भोजन का प्रबन्ध हो सकता है?"

"भोजन की बात आप यहाँ भूल जाइये। अगर कहीं से दूध मिलगया तो लेता आऊँगा। आप ज़रा उस दूकान पर जाकर केले हों तो ले आइये। दोनों उसीसे रात गुज़ार देंगे।

इतना कहकर चिन्नप्पा एक कोने में पड़ा हुआ एल्यूमिनियम का एक लोटा उठाकर चल पड़े। उनके आने तक मैं भी दूकान से कुछ केले और खारी मूँगफली ले आया। उनके लौटने पर हम दोनों ने मिलकर फलाहार और दूध से क्षुधा-शांति की फिर चिन्नप्पा जी ने बीड़ी सुलगाते हुए पूछा—"कहिए, किस काम से आये हैं, आप?"

मैंने संक्षेप में यहाँ आने का उद्देश्य बताया और कहा कि

गोपालाचार्य जी से आपका नाम सुनकर यहाँ आयाहूँ। उन्हींसे सुना कि आपके बुजुर्ग वाद्य-विशारद थे और वेंकटसुब्बय्या का साथ किया करते थे। क्या आप वेंकटसुब्बय्या के बारे में कुछ जानते हैं?"

"ज़्यादा तो नहीं मालूम; पर हाँ, बुजुर्गों के मुँह से जो कुछ सुना था, वह याद है। मुझमें कुछ अधिक कला तो है नहीं, फिर भी तबला बजाने से पहले उनका नाम लेता हूँ तो मन को एक प्रकार का बल मिलता है। मेरे पिताजी तबला सिखाते समय प्रायः कहा करते थे—"विद्या सीखनी हो तो वेंकटसुब्बय्या की तरह सीखनी चाहिए। वरना जो कुछ सीखते हो वह नहीं के बराबर ही है।"

"आपका सारा ख़ानदान तबलचियों का रहा क्या?"

"नहीं, साहब। हम तो सुनार हैं। मेरे पिताजी सोने-चाँदी का काम किया करते थे, पर साथ में तबला-वादन का काम भी था। मैंने उसे अपने पिताजी की विद्या जानकर थोड़ा-बहुत सीख लिया है।"

"आप अब भी सुनार का काम करते हैं?"

"ना, रामलीला के फेर में पड़ने से इसीको सिखाना मेरा पेशा बन गया है।"

"तो क्या रामलीला ही आपकी वृत्ति रह गई है!"

"जी।"

"क्या उससे गुज़र-बसर करने लायक आमदनी हो जाती है!"

"आमदनी कैसी साहब! साल में छः महीने तो दो जून रोटी मिलना भी मुश्किल है। आजकल लोगों पर नाटक और सिनेमा की सनक सवार है। रामलीला को कौन पूछता है? फ़सल के दिनों में या युगादि के दिन, अथवा दशहरे या किसी मेले के दिन, साल में

दो-एक बार खेल लेते हैं। सो भी वही लोग मिलकर जो चेहरा रँगवाने की ख्वाहिश रखते हैं। इन मौक़ों को छोड़कर बाद में कोई यह पूछनेवाला भी नहीं रहता कि हम ज़िंदा हैं या मरगये।"

"एक खेल से कितना हाथ लग जाता होगा?"

"हाथ क्या लगे, सिर! अभ्यास के दिनों में दो वक्त का खाना, काफ़ी और बीड़ी ख़र्च; और खेल हो जाने पर यही पाँच-दस रुपये। बस, ख़तम।"

"इससे कैसे गुज़ारा होता होगा।"

"गुज़ारा तो नहीं होता, पर करना पड़ता है। या फिर धन्धा ही छोड़ दिया जाय। लेकिन इसे छोड़ दूँ तो और करूँ भी क्या? धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का—ऐसा हाल होजाय।"

"ख़ैर, आप तो अपना गुज़ारा किसी तरह कर भी लें, पर बीबी-बच्चों का?"

"यह तो वह सोचे, जिसे बीबी-बच्चे हों। मैं क्यों सोचूँ!"

"तो, क्या आपकी शादी नहीं हुई?"

"शादी? किसी ज़माने में करना चाहता था। पर अब वह विचार भी नहीं रहा। ख्याल आ गया तो कहीं प्यास बुझा ली। ख़ैर, जाने भी दीजिए, इन बातों में क्या रखा है?"

"...............।"

"अब यह बताइये कि आख़िर आप मुझसे क्या जानना चाहते हैं। जो कुछ जानता हूँ, सुनादूँगा। तीन दिनों से कम्बख्त नींद ही नहीं मिली है। आँखें सूज गई हैं। आप भी सवेरे से भूखे-प्यासे और थके-माँदे हैं, जल्दी कुछ सुनकर सो जाइए।"

"यह ठीक है। आप वेंकटसुब्बय्या के बारे में जो कुछ जानते हैं, अगर मुझे बता सकें तो बड़ी मेहरबानी हो!"

"अच्छी बात है।" कहकर चिन्नप्पाजी सुनाने के लिए तैयार हो गये। लेकिन मुझे ऐसा महसूस हुआ कि वे यह नहीं समझ पा रहे हैं कि इसे कहाँ से शुरु करें और किन-किन बातों को बतलाएँ। शायद इसी लिए वे कुछ देर चुपचाप बैठे सामने की दीवार की तरफ़ ताकते रहे; और फिर बीड़ी के दो-तीन कश खींचे। पास ही रखा हार्मोनियम बजाया, तबले पर धीरे से दो–तीन बोल बजाये और फिर बोले—"मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि क्या कहूँ? आप ही कुछ पूछें, मैं बतलाता जाऊँगा।"

"मुझे उनके बारे में ज़्यादा मालूम नहीं है। इसलिए मैं कैसे पूछूँ कि अमुक बात बतलाइये?"

"अच्छा, तो पहले आप जो कुछ जानते हैं, वही कह दीजिए। बाक़ी का विषय मैं सुनाऊँगा।"

यह बात ठीक रही। मैंने दान-पत्रक से लेकर लिंगा जोशी, मुरुगेन्द्रप्पाजी और गोपालाचार्यजी से जो कुछ जाना था, सब संक्षेप में बतला दिया।

"वेंकटसुब्बय्या ने संगीत कैसे सीखा, यह किसीने नहीं बतलाया?"

"शायद किसी को मालूम ही न हो।"

"हो सकता है। उनका संगीत सीखना और देवी का उन पर प्रसन्न होना—इसकी भी एक कहानी है। मेरे पिताजी उस वृत्तांत को बड़े मज़े से, खूब रंग चढ़ाकर सुनाया करते थे। उसे सुनकर हम में भी यह जोश पैदा हो जाया करता था कि क्यों न हम भी उसी तरह

संगीत सीखें और वैसे ही महान व्यक्ति बनें। पर उस तरह सीखना चाहने पर भी आजकल वैसे सिखानेवाले कौन हैं? सच बात यह है कि सीखनेवाले भी कोई नहीं हैं। आजकल तो लोगों से नाटक की दो-चार बातें भी याद रखना नहीं होता। इन्हें सिखाने के लिए भी हमें उनके समय और मर्ज़ी का ख्याल रखना पड़ता है। इस तरह हमें खुद अपनी लाज रखनी पड़ती है। ऐसा न करें तो इस में हमारा ही अपमान है। अब -पुण्यात्माओं का वह ज़माना नहीं रहा, साहब।" इस तरह चिन्नप्पाजी ने अपनी कहानी की भूमिका बाँधी।

"जैसा गोपालाचार्य जी ने कहा, उसी तरह मेरे पिताजी भी सुनाया करते थे। वेंकटसुब्बय्या बचपन से ही संगीत के मतवाले थे। कोई गाता तो उसे सुनकर वे मस्त हो जाते। वे भौंरे का गुंजार, मधुमक्खी की झीनी गूँ-गूँ और नदी नालों का कल-कल नाद सुनते-सुनते तल्लीन हो जाते थे। उम्र के साथ यह व्यसन और अधिक बढ़गया। जब वे दस बारह साल के लड़के थे तभी संगीत और नाटक के प्रेमी हो गये थे। यहाँ तक कि दुर्ग में ही नहीं बल्कि दुर्ग से दूर कहीं भी अगर संगीत या नाटक का आयोजन होता, तो वे घर से पूछे बिना ही चले जाते। फिर भले ही वह स्थान बीस मील क्यों न हो। और फिर दो-तीन दिन तक घर लौटने का नाम ही नहीं लेते। शुरू-शुरू में नृसिंह जोशी और उनकी घरवाली, दोनों चिंता किया करते। वे दुखी होकर उनकी खोज करते। गाँव का कोना-कोना छान डालते और आस-पास के गाँव में आदमी दौड़ाते। लेकिन धीरे-धीरे उन्हें भी इसकी आदत-सी पड़गई। बाद में दौड़ना-दौड़ाना बंद कर दिया।"

"जोशी जी ने संगीत के प्रति अपने बेटे का अनुराग देखकर

नगर के एक विद्वान द्वारा उन्हें संगीत सिखाने की चेष्टा की। पर वह लड़का वहाँ भी निराला निकला। गुरु जी कुछ भी सिखाएँ, लेकिन वे वही सीखते जो उनकी इच्छा होती। मन जो चाहता वही गाते। अगर गुरु जी क्रमपूर्वक सीखने को कहते तो वे ज़िद पकड़ते कि मुझे यह नहीं सीखना, वही सिखाइये। उस ज़माने में संगीत सीखना कोई हँसी-खेल नहीं था। वह एक व्रत-साधना के समान था। बड़े सवेरे उठकर, हाथ में तानपूरा ले स्वर-संधान करना पड़ता, स्वर-साधना करनी पड़ती थी। संगीत की अपेक्षा उसे सिखानेवाले की सेवा अधिक करनी पड़ती थी। कोल्हू के बैल की तरह, वे जैसा कहते वैसा ही करना पड़ता; और जितना सिखाते उतना ही सीखना पड़ता था। परंतु उस बालक की हर बात उल्टी थी। जब जी चाहता, तब मस्त होकर गाता। अमुक चीज़ को उसी तरह क्यों गाना चाहिए? इस तरीके से क्यों नहीं गाया जा सकता? वग़ैरह प्रश्न कर गुरु से तर्क करता। उन दोनों गुरु-शिष्यों का सम्बन्ध तेल-पानीका-सा था। ज्ञानार्जन की अपेक्षा तर्क-वितर्क ज़्यादा होता।"

"वेंकटसुब्बय्या के शिक्षक का नाम तिरुमलय्या था। वे दरबार के एक गवैया थे। कहते हैं कि उस आदमी में विद्या से कहीं ज़्यादा अहंकार की मात्रा थी। पर प्रारंभिक शिक्षा कोई भी दे, यह सोचकर नृसिंह जोशी ने उनके पास अपना पुत्र भेज दिया था एकबार की बात है, नगर में किसी परदेसी गायक का संगीत हुआ। तिरुमलय्या अपने शिष्यों के साथ वहाँ सुनने चले गये। फिर दूसरे दिन उनके घर में उसी की चर्चा हुई। गुरु जी टाँगें फैलाकर, शिष्यों से तेल की मालिश करवाते हुए बड़ी शान से बोले —

"छि ...... उसकी ......। वह गाना था या रोना! उससे तो एक गधा अच्छी तरह गा सकता है। हिण्डोला इस तरह गाया जाता है! स्वर तक का तो ज्ञान नहीं है और चला आया गवैया बनकर!" तब मालिश करनेवाले शिष्यों ने उनकी हाँ में हाँ मिलाकर कहा— "सच है, गुरु जी। पूरिया धनाश्री सुनना हो तो बस, आपके मुँह से सुनना चाहिए। परसों जब आपने गोपालस्वामी के मंदिर में वह राग सुनाया, तब न जाने कितने लोग आँसू बहा रहे थे। जब कि कल लोग बैठे-बैठे जम्भाइयाँ ले रहे थे।" और यह सुनकर तिरुमलय्या फूलकर कुप्पा हो गये।

"मेरी बराबरी वह बेचारा क्या कर सकेगा! तुम्हारे बराबर संगीत भी उसके भाग्य में नहीं लिखा है।" कहकर चेले की पीठ थपथपाई। यही वहाँ की रीति थी। इस से सब परिचित थे। इसलिए लोगों ने उस घर का नाम 'लाल बुझक्कड़ का अखाड़ा'—रख छोड़ा था।"

"हमेशा की तरह उस दिन भी, यानी आगंतुक गायक के संगीत के दूसरे दिन, तिरुमलय्या के चौपाल में सभा जमी। उस समय उन्होंने एक शिष्य से अपने सिर पर महाभृङ्गराज तेल की मालिश कराते हुए गवैये का उपहास आरंभ किया और एक शिष्य ने उन बातों का समर्थन। वे बोले—"ऐसे ऐरे-ग़ैरे भी गवैये बनकर आ जाते हैं। गोया 'संगीत' संगीत नहीं, भिखारियों का बिलखना हो गया है। राग और ताल जाने दो, तब भी तुमने उसका स्वर नहीं सुना? स्वर का खिंचाव सोने के तार के समान होना चाहिए। उसे जितना भी खींचो, वह बराबर विकसित होता चला जाय। उस कम्बख्त का स्वर बुढ़िया के सिर की तरह डोल रहा था। मैं पूछता हूँ कि जिनके पास अच्छा

स्वर न हो और स्वर में मिठास न हो, ऐसे लोग गाने के नाम पर कालिख पोतने क्यों चले आते हैं?" तिरुमलय्या ने शान से अकड़ते हुए उस गवैये के प्रति तिरस्कार प्रकट किया। उनके शिष्यों ने अपने सिर हिलाकर उनकी बातों को सोलह आने सच बतलाया। वेंकटसुब्बय्या भी वहीं थे। पर वे कुछ नहीं बोले।

"उनके साथ वे भी गाना सुनने गये हुए थे। गवैया बेचारा बूढ़ा था। आवाज़ में ज़्यादा ज़ोर न होने पर भी राग-सम्बन्धी ज्ञान में पहुँचा हुआ आदमी था। स्वर भी श्रुति-बद्ध था। उसकी गायन पद्धति से उसका गहरा अनुभव झलक रहा था। यह ठीक है कि उसका गायन अत्युत्तम नहीं था। लेकिन ऐसा भी नहीं था कि उसे बुरा कहें। वेंकटसुब्बय्या को सब से अधिक पसन्द आनेवाली बात तो उस गायक की विनय थी। स्वयं वृद्ध होते हुए भी उसने उपस्थित श्रोतावृन्द के बालकों तक को भी प्रणाम किया था और संगीत शुरू करने की इजाज़त माँगी थी। जब किसीने कहा कि आप हम सब से उम्र में बड़े हैं, इसलिए हाथ जोड़ने और आज्ञा लेने की कोई ज़रूरत नहीं है, तब उसने उत्तर दिया था कि 'भाई सांहब, उम्र के लिए कोई हाथ जोड़ता है क्या! विद्या के सामने सिर झुकाया जाता है। यहाँ ज्ञान और विद्या में मुझसे हज़ारों लोग बड़े हैं। उन सब को मेरा प्रणाम है।' इस बात ने वेंकटसुब्बय्या के मन को मुग्ध कर लिया था। इधर तिरुमलय्या की डींग सुन-सुनकर उनके कान पक गये थे।"

"जब वेंकटसुब्बय्या ने तिरुमलय्या की ये बातें सुनीं तो उनके दिल में आग-सी लग गई। उनका ऐसा कपटी स्वभाव नहीं था कि अंदर कुछ और बाहर कुछ। अगर उनके जी में कोई बात आजाती

तो उसे फ़ौरन कह डालते। अतः उस समय भी उन्होंने ऐसा ही किया—'गुरु जी, दूसरों की ख़ामियाँ ढूँढना और आलोचना करना आसान है, ज़रा आप खुद गाकर दिखाएँ तो पता चले। उसकी जितनी पहुँच थी उतना गाकर दिखा दिया। उस समय तो आप भी वहाँ बैठे-बैठे 'वाह-वाह' कर रहे थे। अब यहाँ आकर उसकी निंदा क्यों कर रहे हैं?"

"ओहो, तुम बड़े आदमी की दुम यहीं हो क्या? मैंने तुम्हें नहीं देखा था। अब तक तो ठीक चल रहा था। फिर क्या यह अंट-शंट बकना शुरू कर दिया? चुप नहीं बैठा जाता? छोटा मुँह बड़ी बात! क्या चुप रहने का भी कुछ मोल देना पड़ता है?" तिरुमलय्या ने व्यंग्य करते हुए कहा।

"वेंकटसुब्बय्या की चढ़ती जवानी को ये बातें अखर गईं। उसके गुस्से का पारा ऊँचा चढ़ गया। तिरुमलय्या के दूसरे शिष्य उसकी ओर देखकर शरारत भरे ढंग से हँसने लगे। यह जले पर नमक छिड़कना था। फिर भी वेंकटसुब्बय्या लिहाज़ रखता हुआ बोला—"गुरुजी, आप जितनी मार्के की बातें करते हैं, उतना ही अगर गाकर भी दिखाते तो आपको कभी का 'दरबारी-तोड़ा' मिलजाता।"

"अबे नालायक़, मेरी ही उँगली से मेरी आँख फोड़ता है! तू मीठा बोलकर यह बतलाना चाहता है कि मुझे गाना नहीं आता? तेरी क्या बिसात कि तू मुझे तराज़ू पर तौले? बद-तमीज़ कहीं का! किसीने ठीक ही कहा है कि गटर के कीड़े को नाला क्या और गंगा क्या। ख़ैर, आज तो माफ़ कर देता हूँ। लेकिन फिर कभी ऐसी बातें करेगा तो ज़बान खींच लूँगा। समझा?"

"बस, आप इतना ही कर सकते हैं। जब मैंने गाने की बात कही तो ज़बान खींच लेने की धमकी देते हैं। मैं गुरु समझकर सहता जा रहा हूँ और आप हैं कि मनमाना बोल रहे हैं। अगर आप में साहस ही है तो गाकर दिखाइये न? ताकि दस आदमी कह सकें कि वाह-वाह, क्या कमाल गाते हैं।"

"बात बढ़ती ही गई। यहाँ तक कि गुरु-शिष्य में होड़ लग गई। बात ही बात में वेंकटसुब्बय्या ने कह दिया—आप दूसरों की बात छोड़ दें, मैं खुद ही आपसे अच्छा गा सकता हूँ!"

"तिरुमलय्या और सब बातों को छोड़ उसी बात पर अड़ गये। वे शर्त बदकर बोले—'अगर तू शरीफ़ बाप की औलाद है तो सभा में मुझसे अच्छा गाकर दिखा। वरना दस आदमियों के सामने मेरे चरण छूकर कहना पड़ेगा कि मैं जाति का ब्राह्मण नहीं। मैं हार गया।"

"इतना ही क्यों, मैं कह सकता हूँ कि अगर आप से अच्छी तरह नहीं गा सका तो फिर कभी ज़िंदगी में संगीत का नाम नहीं लूँगा।" यह कहकर वेंकटसुब्बय्या घर के बाहर हो गया।

"तिरुमलय्या अगर चाहते तो उसे बच्चा समझकर इस किस्से को वहीं ख़तम कर सकते थे। लेकिन वे ऐसे सात्विक प्रकृति के आदमी नहीं थे। उन्होंने नगर के दस-पाँच गवैये इकट्ठे किये और उनके सामने भी वही बात कही। उन्हें लोगों ने बहुत समझाया कि वेंकटसुब्बय्या अभी लड़का है। आप उसकी बातों की परवाह न करें। वह तो बच्चा ठहरा, लेकिन आपको यह क्या होगया? देखने-सुननेवाले क्या यह नहीं कहेंगे कि बूढ़े हो गये, मगर अभी तक अक्ल नहीं आई। जाने

दें इन बातों को।' पर तिरुमलय्या ने ज़िद करते हुए कहा—'नहीं, यह नहीं हो सकता। मैं उसे तभी छोड़ सकता हूँ जब वह दस आदमियों के सामने मेरे चरण छूकर कहे कि मुझसे बड़ी भूल हुई। यों ही छोड़ दूँ तो दूसरों के सामने मेरी क्या इज़्ज़त रह जायगी?"

"उन्हीं लोगों ने वेंकटसुब्बय्या को भी समझाया—'भैया, कुछ भी हो, वे तुम्हारे गुरु हैं। इस तरह उनके साथ उलझ पड़ना ठीक नहीं है। उनसे क्षमा माँग लेने में कोई अपमान नहीं होता। तुम्हारे लिए उनके सामने हारकर चलना ही श्रेयस्कर है। तुम उनसे कहदो कि गुरु जी मुझसे ग़लती हो गई है। इससे ईश्वर तुम्हारा कल्याण करेगा। पर वेंकटसुब्बय्या टससे मस न हुआ। उसने साफ़ कह दिया कि अगर मैं माफ़ी माँग लूँ तो इससे मेरे ख़ानदान की नाक कट जायगी। मेरा जीना, मरने के बराबर हो जायगा। हाँ अगर मैं हार गया तो ज़रूर उनके चरण छूकर क्षमा माँग लूँगा। चाहो तो जीतने पर भी माफ़ी माँग सकता हूँ। किन्तु अभी नहीं। उसे, उसके माता-पिता ने भी समझा-बुझाकर देख लिया, पर वह अपनी टेक से ज़रा भी इधर-उधर नहीं हुआ। उसे प्यार से समझाया, डराया-धमकाया और आँसू बहाकर भी मनाया। यहाँ तक कि छोटे-बड़े सब समझाते-समझाते हार गये। पर उसका एक ही उत्तर था—पहले परीक्षा हो जाने दीजिए। बाक़ी बातें फिर होंगी।"

"जब गुरु और शिष्य दोनों ही उस बात पर अड़ गये तब और कोई चारा ही नहीं रहा। आख़िर परीक्षा की तिथि निश्चित होगई।"

"एक दिन शुक्रवार की संध्या को तिरुमलय्या के घर पर स्पर्धा का प्रबन्ध किया गया। उसके तीन दिन पहले से वेंकटसुब्बय्या अपने घर ही नहीं गया था। वह कब कहाँ जाता और क्या खाता-पीता—

इसका किसी को पता न था।"

"तिरुमलय्या की दृष्टि में वेंकटसुब्बय्या की कोई बिसात नहीं थी। उसके लिए वह 'कल का छोकरा' था जो उससे उलझ पड़ा था। वह उसे चुटकियों में जीत सकता है। आख़िर स्पर्धा का दिन आगया। नगर के कुछ संगीतज्ञ निर्णायक बने। गुरु-शिष्य की होड़ का वृत्तांत सुनकर सैकड़ों लोग—संगीत जाननेवाले और न जाननेवाले, सब तरह के—वहाँ जमा हो गये। तिरुमलय्या, दूल्हे की तरह सज-धजकर यों बैठे थे, जैसे उनकी शादी हो रही हो। वे दसों उँगलियों में अंगूठियाँ, कानों में बालियाँ और हाथ में मणिबन्ध पहने हुए थे। उन्होंने कोरदार रेशमी धोती पहनी थी और अंग पर लाल दुशाला ओढ़ रखा था।"

"स्पर्धा का समय निकट आ गया। लोग विशाल संख्या में जमा हुए थे। यहाँ तक कि वेंकटसुब्बय्या के पिता नृसिंह जोशी भी आ गये थे। पर असल में जिसे आना था वह लापता था। तब तिरुमलय्या ने अहंकार भरे शब्दों में हँसकर कहा—'बेचारा डरकर कहीं भाग गया; अपना काला मुँह क्योंकर दिखाता।' उनकी इस बात में विजय की प्रसन्नता झलक रही थी। दूसरे लोगों ने भी उनका कथन ठीक माना। किसी ने इसका समर्थन किया—'और नहीं तो क्या! जिसे सबसे पहले आना चाहिए था वही ग़ायब है।' कुछ लोग नृसिंह जोशी की ओर देखकर हँस पड़े। उन्होंने अपनी नीचे झुकी हुई गरदन, उपर नहीं उठाई। किन्तु उसी समय लोगों में कुछ फुसफुसाहट होने लगी—लो वह आ गया, यह आ गया।' आदि। तिरुमलय्या ने दरवाज़े की तरफ़ यों देखा, जैसे कोई शेर अपने शिकार को देखता है। उस समय नृसिंह जोशी ने भी गरदन ऊपर उठाई।"

“उन दिनों वेंकटसुब्बय्या की उम्र, यही कोई सोलह के आस-पास रही होगी। वह बड़ा ही सुन्दर था—ऐसा कि उसे देखते ही स्नेह उमड़ पड़े। लेकिन उस दिन उसका चेहरा बड़ा विकराल लग रहा था। उसके मुख पर, सिर के लम्बे-लम्बे बाल बिखरे हुए थे और ललाट पर कुंकुम लगा हुआ था। मुख-मंडल और आँखों से अलौकिक तेज प्रकट हो रहा था—ऐसा कि उसे जो भी देखे, डर जाय। वह अपने शरीर पर गीली धोती और कन्धे पर गीला दुपट्टा डाले, बन्धनमुक्त साँड की तरह भीतर चला आया। फिर मंच पर रखी हुई मूर्ति को नमस्कार कर सभा की भी वंदना की और आसन पर जा बैठा। उसका मुँह देखकर तिरुमलय्या का चेहरा ज़रा पीला पड़ गया।”

“मैं परीक्षा के लिए तैयार हूँ, आज्ञा दी जाय”—वेंकटसुब्बय्या ने कहा। पर पहले कौन गाए—इस सम्बन्ध में थोड़ी चर्चा हुई; और फिर निश्चय किया गया कि पहले तिरुमलय्या ही गायँगे, क्योंकि वे बड़े हैं। अब तबला-वादक ने ठकठकाकर तबला चढ़ाया। एक, दूसरे शिष्य ने तानपूरे के स्वर मिलाए। तब प्रथानुसार तिरुमलय्या ने सरस्वती और गणेश का मङ्गलाचरण गाकर ‘यमन कल्याण’ छेड़ा। ‘यमन कल्याण’ उनका एक बड़ा प्रिय राग था। उस राग में श्रोताओं को मुग्ध कर देने की क्षमता थी। स्पर्धा के कारण उस दिन वे और भी स्फूर्ति से गाने लगे। एक अजीब समाँ बँधगया। उन्होंने लगभग पौने घंटे तक गाकर अपना संगीत समाप्त किया। श्रोतागण इसकी कल्पना तक नहीं कर सकते थे कि कोई दूसरा भी इससे अच्छा गा सकता है। उन्हें विश्वास हो गया था कि आज सिर-धड़ की बाज़ी लगाकर भी वेंकटसुब्बय्या मैदान नहीं मार सकता।”

"तिरुमलय्या के गाना शुरू करने के समय से ही वेंकटसुब्बय्या आँखें मूँदकर प्रतिमा की तरह अविचल बैठा रहा। शायद तिरुमलय्या का संगीत उसके हृदय को भी छू गया था। उसकी आँखों से आँसू की दो-एक बूँदें भी छलक पड़ीं; मानो वह उस अत्युत्तम संगीत के प्रति उसकी भेंट हो। उनका गायन समाप्त होने पर भी वह उसी अवस्था में बैठा रहा।"

"क्षण भर बाद उसने आँखें खोलीं। सभा की वंदनाकर तानपूरे से अपना स्वर मिलाया और फिर उसने भी वही 'यमन कल्याण' छोड़ा। उसके आलाप का आरंभ ही कुछ ऐसे ढंग से हुआ कि सुननेवालों के शरीर में बिजली का-सा संचार हो उठा। पहले उसने आलाप लिया। इसके बाद 'बोलतान' और फिर राग शुरू किया। वह कितनी देर तक गाता रहा, कैसा गाता रहा—इसकी किसी को सुध न थी। मानो सब मोहित हो गये थे। उधर तबलची की उँगलियाँ बिलकुल रुक गई थीं और वह बैठा-बैठा मुँह देख रहा था। श्रोतागण नाद में लीन हो बुत बने सुन रहे थे।"

"कहते हैं कि वेंकटसुब्बय्या के उस दिनवाले 'यमन कल्याण' को बरसों तक लोग नहीं भूल पाये। हाँ, गायन समाप्ति के बहुत देर बाद, लोगों को होश आया। उनकी आँखों से भावातिरेक के कारण आँसू छलक पड़े थे।"

"आँखें सजल हो जाने के कारण उनकी दृष्टि में धुँधलापन छा गया था। जब उन्होंने अपनी आँखें पोंछकर देखा तो उनके आश्चर्य की कोई सीमा न रही। उन्होंने तिरुमलय्या का मस्तक शिष्य के चरणों पर झुका हुआ पाया। बाद में उन्होंने शिष्य के सामने हाथ जोड़े,

अपना दुशाला और सोने का तोड़ा निकालकर उसके अर्पण किया और आँखों से आँसू बहाते हुए सभा छोड़ दी। वे लम्बे-लम्बे डग भरते हुए, बिना कुछ बोले-चाले ही, अभिशप्त की तरह चले गये।"

"दूसरे दिन सवेरे, लिंगण्णा के पोखरे में तिरुमलय्या का शव तैरता हुआ मिला।"

"नगर में जिसे देखो वह वेंकटसुब्बय्या के गायन की प्रंशसा करता दिखाई देता। अनेक लोगों ने नृसिंह जोशी से कहा—'जोशी जी, बैटा हो तो ऐसा हो, लाखों में एक है वह। ऐसा कुल-दीपक एक ही काफ़ी है। धन्य हैं आप!' परंतु उन्हें अपने पुत्र की यह विजय पसन्द नहीं आई। वे कहते—'इस विजय से क्या लाभ जो गुरु को ही खा जाय! जो, एक कौर अन्न दे और दो अक्षर भी सिखाए, उसे गुरु मानकर पूजना चाहिए। यदि ऐसी कृतज्ञता न हो तो कितना ही वैभव क्यों न हो, वह सब मिट्टी के बराबर है। क्या पता, अब गुरु-हत्या का यह पाप किस प्रायश्चित्त से दूर होगा।"

"जिसकी प्रशंसा करते लोगों की जीभ नहीं थकती थी, जोशी जी ने अपने उसी लड़के से धीरे-धीरे बोलना तक बन्द कर दिया। अगर कभी जोशी जी से कोई कहता—'वाह-वाह, कैसी विद्या पाई है आपके लड़के ने, सचमुच कमाल की बात है।' तो जोशी जी तुरंत उसे जवाब देते—'ऐसी निगुरी विद्या किस काम की! सूरज की किरणें पड़ने से काच का टुकड़ा भी हीरे की तरह दमक उठता है। पर दिन ढलने पर? 'काच' काच और 'हीरा' हीरा रह जाता है। जब वह अपनी मेहनत से प्राप्त विद्या के बल पर, फिर वैसा ही दिन दिखाए तभी कुछ माना जा सकता है।' जो लोग वेंकटसुब्बय्या की

प्रशंसा करने जाते, वे बेचारे जोशी जी की ये बातें सुनकर अपना-सा मुँह लिये, वापस घर लौट आते।"

"नृसिंह जोशी जी उसी दिन से अपने बेटे के साथ कुछ खिंचे-खिंचे-से रहने लगे। यदि कभी कुछ बात भी करते तो बहुत कम। या फिर इस तरह बोलते जैसे अपने किसी दूर के दोस्त के साथ बोलते हों। औरों की भाँति वेंकटसुब्बय्या ने भी अपने पिता से दाद पाने की इच्छा की। लेकिन उनका विचित्र व्यवहार देखकर, वे बेचारे उदास हो गये। अब वे भीतर ही भीतर घुटने लगे। क्या, पुत्र भी कभी अपने पिता से यों पूछ सकता है कि पिताजी, आप ऐसा क्यों करते हैं? नहीं। फिर भी एक दिन वे पूछ ही बैठे कि पिताजी आजकल आप मुझ से खिंचे-खिंचे-से क्यों रहते हैं? मैंने ऐसा कौनसा अपराध कर डाला है?"

"बाप के चाहने से बेटे की अभिवृद्धि होती है और गुरु के चाहने से उसकी कीर्ति की। जो अपने गुरु के लिए फाँसी का फन्दा बन गया, वह अब क्यों रोए कि उसे कोई नहीं चाहता! ख़ैर, जो होनी थी सो होकर रही। भाग्य का लेखा कौन टाल सकता है! पर मैं देखता हूँ कि अब तो तुमने अपनी बुद्धि को हठ की शराब पिलानी भी शुरू कर दी है। क्या मैं इसकी प्रशंसा करूँ? इस आचरण से क्या कभी किसी का कल्याण हुआ है?" जोशी जी ने उत्तर के बदले उल्टा यह प्रश्न किया।"

"वेंकटसुब्बय्या के संगीत की प्रसिद्धि समूचे दुर्ग में फैल चुकी थी। पर आगे चलकर उसकी विजय उसी के लिए हानिकर सिद्ध हुई। लोगों में यह विश्वास-सा घर कर गया था कि वेंकटसुब्बय्या ने उस

दिन जो कुछ गाया था, वह उसकी प्राप्त की हुई विद्या नहीं थी, बल्कि एक दैवी चमत्कार था। इसी लिए दूसरे संगीतज्ञ उसे अपना शिष्य बनाने से भी घबराते थे। यह दैवी-शक्ति सम्बधी विश्वास गहरा पैठ गया था। इधर तिरुमलय्या की मौत ने उस मूक भय को और बढ़ा दिया था। यों, सब उसे बहुत चाहते थे। पर उनका वह स्नेह उसे पास बुलानेवाला न होकर दूर रखनेवाला था। वेंकटसुब्बय्या को इसका अनुभव कुछ दिनों बाद जाकर हुआ। तब उसे मालूम हुआ कि उसकी जीत का पासा ठीक नहीं पड़ा। समय, जिस तेज़ी से चला जा रहा था, उसकी संगीत सीखने की पिपासा भी उसी तेज़ी से बढ़ती जा रही थी। पर उसे संगीत सिखाने के लिए कोई नहीं मिल रहा था।"

"वेंकटसुब्बय्या को अपने गायन की कमज़ोरियाँ भी दिन-प्रतिदिन मालूम होने लगीं। वह प्रायः सोचने लगता—'फिर उस दिन मैं यमन कल्याण इतनी अच्छी तरह कैसे गा सका? उस समय किस दैवी-शक्ति ने मेरी सहायता की? शायद मेरी जन्मजात स्वाभाविक भक्ति ने ही, परीक्षावाले दिन सुबह से शाम तक, भगवान के सामने बैठकर मुझे यह प्रार्थना करने के लिए बाध्य किया था कि हे प्रभु! आज मुझे विजय प्रदान करें। तो क्या भगवान की कृपा ही मेरे अंतःकरण में पैठकर उस समय गा रही थी? पर यदि यह बात है तो फिर उसके बाद वह मुझसे दूर क्यो होगई? रोज़ जब मैं गाता हूँ तब वह मेरी सहायता क्यों नहीं करती?"

"इस तरह सोच-सोच कर वेंकटसुब्बय्या बिलखने लगता। मानों कोई बछड़ा अपनी माँ से अलग हो गया हो। एकांत में बैठकर गाते समय अभ्यस्त राग भी उसके हाथ आकर, हाथ न आनेवाली तितली

की तरह इधर–उधर उड़ जाते, उसे सताते रहते। जिस प्रकार, पूर्ण प्रवाह से बहनेवाली नदी गर्मी के दिनों में अचानक सूख जाती है, उसी प्रकार हृदय से उमड़कर कंठ तक आई हुई भाव–तरंगें, अचानक कहीं खो जाती थीं। मुँह से निकलते–निकलते रह जातीं। वह पुनः सोचता और छटपटाता कि क्षण में प्रकाश और क्षण में अँधेरा—यह कौन मुझ से आँख–मिचौनी खेल रहा है? यह समय का फेर है या गुरु का शाप — क्या है?"

"वह तड़पता, तरसता और सोचता कि काली रात से भी भयंकर, इन बुरे दिनों में, क्यों न कोई मेरा हाथ थामकर यह कह देता — 'उठो, अब चिंता करने की ज़रूरत नहीं है, मैं तुम्हारे साथ हूँ। लेकिन उस समय उसे कोई सहारा देनेवाला नज़र नहीं आता। उसे अपनी उस हठ का दुःख अलग सताता रहता जो तिरुमलय्या जी की मृत्यु का कारण बनी थी। कभी–कभी वह अपने आप से प्रश्न करता— 'हठपूर्वक जीतकर भी मैंने क्या पाया? उल्टा संगीत सिखानेवाले गुरु को खो बैठा; अन्य गुरुजनों की दृष्टि में खटकने लगा। बस, यही फल मिला न?' उसने सोचा कि किसी के सामने यह अन्तर्वेदना प्रकट कर इस विषैले घेरे से पार हो जाऊँ।"

"मगर अपनी व्यथा किसे सुनाए? अपने पिता के साथ उसकी इतनी आत्मीयता न थी कि उन्हें जाकर अपना दुखड़ा सुना सके। उन्होंने शुरू से ही अपने गुरु के साथ स्पर्धा करने का विरोध किया था। पर उनके मना करने पर भी उसने सिर्फ़ हठ के कारण उनकी बात भी नहीं मानी थी। वे उस घटना के बाद से वेंकटसुब्बय्या से बिलकुल दूर हो गये थे। उसके ऐसे कोई दोस्त भी नहीं थे कि

उन्हीं को जाकर अपने दिल की बातें कह सके। हाँ, इस प्रकार के एक व्यक्ति ज़रूर थे कि जिनके सामने वे अपने मन का आपा खोलकर रख सकते थे— और वे थे केवल उनके मामा।"

"अनन्तय्या उनके मामा लगते थे; यानी उनकी माँ के भाई। वे वेंकटसुब्बय्या को बचपन से ही बहुत चाहते थे। वे जब कभी चित्रदुर्ग आते, तब अपना सारा समय उन्हीं के साथ बिताते। जब वे बच्चे थे तब उन्हें जो वे मांगते, दिलाते। संध्या के समय, जब वे दोनों टहलने जाते, तब वे वेंकटसुब्बय्या से कोई गाना सुनाने के लिए कहते। उनका गाना सुनकर वे खुश होते तथा और भी खूब गाना सीखने के लिए उन्हें प्रोत्साहित करते।

"वे प्रायः कहा करते कि चहकती चिड़िया, फला-फूला उपवन, बहते पानी और सनसनाते पवन में एक दैवी-संगीत है। मनुष्य ने पक्षियों से ही गाना सीखा है। पर अब वे उसे भूल गये हैं। इसलिए हमारा संगीत कृत्रिम हो गया है। जो अच्छा गायक बनना चाहता है उसे ऐसा दैवी-संगीत सुनकर प्रसन्न होना चाहिए।

"एक तरह से यों कह सकते हैं कि अनन्तय्या ही उनके पहले संगीत-शिक्षक थे। वे उस बालक में संगीत के प्रति असीम अनुराग देखकर, उसे बराबर प्रदीप्त करते रहते— ठीक उसी तरह, जिस तरह सूखे काष्ठ में छिपी हुई अग्नि को प्रगट कर देते हैं। वे स्वयं भी बड़े संगीत-प्रिय थे और साथ ही एक पहुँचे हुए रसिक भी। उन में शास्त्रीय संगीत की बारीकियाँ, जैसे यह अमुक राग है या अमुक ताल है, बतलाने की क्षमता न होने पर भी वे संगीत का रसास्वादन कर सकते थे। वे गले-बाज़ी, ताल और सुर की नट-विद्या को संगीत

नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में संगीत का अर्थ था—रस निष्पत्ति। यानी गायक जब अपने आनंद को श्रोता के कानों में उँडेल कर, उसके हृदय में भी रस-तरंगों का ज्वार उठा दे, तभी वह 'संगीत' संगीत कहला सकता है। इसी बात को, वे, किरण-लालिमा-युक्त हरी-हरी घास पर लेटे, बालक वेंकटसुब्बय्या को समझाते। बालक का अशास्त्रीय किन्तु भावपूर्ण संगीत, उन्हें ऐसा ही आनंद प्रदान करता था। वे स्नेह भरे संतुष्ट स्वर से कहते — 'वेंकटसुब्बू, कहते हैं कि जब हनुमान जी 'गुंडक्रिया-राग' में गाते थे तो चट्टान भी पिघल कर पानी की तरह वह उठती थी। ख़ैर, छोड़ो, यह त्रेतायुग की बात है। आजकल ऐसा कहाँ होता है। लेकिन हाँ, गायक को ऐसा गाना चाहिए कि पत्थर न सही, पर सुननेवाले का दिल तो ज़रुर पिघल जाय। तुम भी ऐसा ही गाने का अभ्यास करो। सुना है कि एक बार लव-कुश ने कोई संगीत सुनाया था। उसे सुनकर मर्यादा पुरुषोत्तम राम को अपनी पत्नी की याद में आँसू आ गये थे। तुम्हें भी लव या कुश बनना चाहिए। बनोगे न? यों प्रश्न करते। उनकी वह बात निरा प्रश्न न होकर 'तुम भी वैसे बनो' के आशीर्वाद से भरी रहती। 'तुम्हें वैसा बनना ही चाहिए, यही तुम्हारे जीवन का लक्ष्य है।' यह शुभेच्छा उसमें सन्निहित रहती।"

"अनंतय्या की इस वाणी को सुनते-सुनते वेंकटसुब्बय्या का हृदय किसी अज्ञात कामना, आश्वासन और प्रतीक्षा से पुलकित हो उठता। वे सुनहली रश्मियों में चमकते और तैरते हुए खेत में सफ़ेद बादलों को देखकर सुध-बुध खो बैठते। उस समय उन्हें ऐसा महसूस होता, मानो संगीत की कोई मंजुल-ध्वनि, आकाश से चक्कर काटती हुई उनके हृदय में

प्रवेश कर रही है। अनंतय्या के साथ रहकर उन्होंने अनेक बार ऐसी अनुभूति प्राप्त की थी। वे सिद्ध गायक बनने के बाद भी, सुखानुभूति के उन मधुर क्षणों को, अपने मामा के संपर्क लाभ को, कभी नहीं भूल सके।"

"हाँ, तो फिर, इस तरह की पारस्परिक सहानुभूति ने उन दोनों की आत्मीयता को और दृढ़ बना दिया था। वेंकटसुब्बय्या, जो दूसरों से बहुत ही कम मिला करते थे, अपने मामा के सामने दिल खोल कर रख देते। अपनी इच्छा-आकांक्षा, भाव, विचार, सुख-दुःख आदि सब उन्हें बतला देते। अनंतय्या, कभी-कभी ही अपनी बहिन के यह आते थे। उस समय ज़रूरी कामों के रहने पर भी वेंकटसुब्बय्या के आग्रह से दो-चार दिन ज्यादा ठहर जाते। वे उनकी सभी बातें शांति पूर्वक और बड़े ध्यान से सुनते; तथा जाने से पहले उनके मन में नवीन उत्साह का संचार कर जाते। उनके वापस चले जाने के बाद चार-पाँच दिन तक भी, वेंकटसुब्बय्या का हृदय, गुंजारित नाद-तरंगों में बहता रहता, जैसे सेमर की लकड़ी पानी में बहती रहती है।"

"अपने पुत्र की संगीत के प्रति रुचि बढ़ाने में, अनंतय्या को सहायक पाकर, एक बार नृसिंह जोशी और अनंतय्या में कुछ विवाद-सा हो गया। ज्योतिष के परम विद्वान जोशी जी से अपने पुत्र का भविष्य छिपा हुआ नहीं था। फिर भी पिता होने के कारण उनकी यह स्वाभाविक कामना थी कि उनका पुत्र अपनी परम्परागत, 'ज्योतिष विद्या' को श्रद्धा के साथ सीखे; और उन्हीं की भाँति गण्य मान्य पुरुष बनकर कुल-मर्यादा का पालन करे। इस दिशा में उन्होंने दो-एक बार प्रयत्न भी किया। पर जब वेंकटसुब्बय्या ने इस में डगमगाती रुचि दिखाई तो

उनका भी मन छोटा हो गया। इस चिंता से, एक दिन असंतुष्ट होकर उन्होंने अपने साले को भी कुछ सुना दिया।

"अनन्तू, उसे पहले ही ज्योतिष की ओर कोई रुचि नहीं है। ऐसी हालत में अगर तुम भी संगीत का मन्त्र फूँकते रहोगे तो फिर हमारा क्या होगा? य ठीक है कि वह मेरा ही बेटा है, लेकिन, उसे मेरी कोई भी बात पसंद नहीं है। वह तुम्हारी हर बात को वेदवाक्य मानता है। अतः तुम्हें चाहिए कि तुम उसे समझा–बुझा कर ठीक रास्ते पर चलाओ। लेकिन ऐसा न करके अगर तुम्हीं उस बहके हुए को और बहकाते रहो तो कैसे काम बन सकता है!"

"इसपर अनंतय्या ने उन्हें सांत्वना देते हुए कहा—'जीजा जी, आप सब कुछ समझते हुए भी ऐसी बातें क्यों करते हैं? क्या संगीत भी विद्या नहीं है? वह जो सीखना चाहता है उसे वही सीखने दीजिए न। वह संगीत के नाम पर प्राण देता है। क्यों न उसे उसी में तरक्क़ी करने दें?"

"यह ठीक है, अनंतू। मैं भी मानता हूँ। अगर मेरे पाँच–दस बच्चे होते, तो मैं कभी भूलकर भी इस विषय में नहीं सोचता। लेकिन मेरा इकलौता बेटा भी यदि घर की लाज न रखकर अपनी कुल–विद्या से मुँह मोड़ ले, तो क्या मेरे साथ ही उस विद्या का भी अन्त नहीं हो जायगा? फिर भी, वह संगीत ज़रूर सीखे, मैं उसे मना नहीं करता। भला मेरा बेटा माँ सरस्वती की प्रिय विद्या 'संगीत' सीखे और मैं उसे मना करूँ? कभी नहीं। संगीत, मुझे भी प्रिय है। पर मेरा इतना ही कहना है कि वह दोनों विद्याएँ सीखे। इससे उसकी इच्छा भी पूरी होगी और कुल–विद्या की भी रक्षा हो जायगी। तुम ज़रा उसे समझाना।"

"मैं ज़रूर समझाऊँगा जीजा जी। पर वह माने तब न? हालाँकि मैंने भी समय-समय पर उससे यही कहा है। लेकिन जब तक वह स्वयं न चाहे, तब तक औरों के चाहने से कुछ नहीं हो सकता।"

"तुम्हारा कहना भी ठीक है, भाई। वह माँ-बाप को सुख देनेवाला नहीं होगा, यह मैं जानता हूँ। वह, शायद हमारी आहों पर अपने यश की नींव रखना चाहता है। ख़ैर, जब मेरी क़िम्मत ही ख़राब है तब भला तुम भी क्या कर सकते हो?" जोशी जी ने अपने मन की व्यथा इन शब्दों में प्रगट की।

"कभी-कभी जोशी जी की बातों से अनंतय्या का हृदय वेदना से भर उठता था। पल भर के लिए उन्हें वेंकटसुब्बय्या पर असीम क्रोध भी आता। वे सोचने लगते कि जो सन्तान माँ-बाप को सुख न दे, वह किस काम की? वे व्यथित होकर वेंकटसुब्बय्या से कहते — वेंकट सुब्बू, तुम्हारा यह रवैया बिलकुल ठीक नहीं है। अगर तुम अपनी खुशी के लिए संगीत सीखते हो, तो पिता का मन रखने के लिए भी जो कुछ वे सिखाएँ वह सीखो। यों न करके अगर तुम उनकी अवज्ञा करते रहे तो उनके लिए पुत्र की क्या सार्थकता रह जायगी?"

"इस बात का वेंकटसुब्बय्या क्या जवाब देते? उल्टी, उनकी आँखें सजल हो जातीं। उनकी इस दशा पर अनंतय्या भी ग़मगीन हो जाते। उन्हें दोनों के दुःख घेर लेते। अतः वे पुनः नर्मी के साथ कहते—'भाई, तुम्हारा रास्ता अलग है यह ठीक है; फिर भी जहाँ तक हो सके, उन्हें सन्तुष्ट रखने की चेष्टा करो। इस घर में तुम्हीं एक मात्र नामलेवा हो। तुम्हें मनमानी करते देख, अगर तुम्हारे बूढ़े माँ-बाप रोते-रोते अपना जीवन समाप्त कर दें तो क्या उससे तुम्हारा

कल्याण हो सकता है? उम्र के साथ विचार-शक्ति का बढ़ना भी ज़रूरी है। वे तुम्हारे मार्ग में रोड़े नहीं बनते। तुम भी उन्हें दुःखी न होने दो। इस तरह सब मिलकर हँसी-खुशी से जीवन व्यतीत करते रहे तो हमारे जैसे आने-जानेवालों का मन भी प्रसन्न रहेगा।"

"वेंकटसुब्बय्या को उनकी बातें ठीक लगतीं। अतः उनके कथनानुसार वे अपने पिता जी से ज्योतिष सीखना शुरू कर देते। जोशी जी उन्हें रात के समय आकाश में नक्षत्र दिखाकर कहते — 'यह शुक्र है, वह कृत्तिका है और यह सप्तर्षि-मण्डल है। आदि-आदि। लेकिन ये बातें उनके दिमाग़ में नहीं आतीं। सुहावनी रातों में, जब मंद पवन के झोंके उल्लास भर देते, तब ग्रहराज के चारों और चक्कर काटनेवाले शेष ग्रह और पंक्ति-बद्ध गतिशील तारक-दल, उन के मस्तिष्क में ज्योतिष-शास्त्र के विचारों को न जगाकर, एक संगीत की ओर आकृष्ट कर देते। वे सब उन्हें किसी तेजोमय दिव्य राग के जीवित स्वर-से लगते। जब विश्व-वीणा के नक्षत्र रूपी तार झनझना उठते, तो संगीत का प्रकाश फूट पड़ता। उस भव्योज्वल व्योम-गान को सुनते-सुनते वेंकटसुब्बय्या सुध-बुध खो बैठते। जोशी जी की बातें उनके कान में नहीं पहुँच पातीं। अपने पुत्र की यह दशा देखकर वे गरम निश्वास छोड़ते रहते, जो रात की ठण्ठी हवा में समा जाते। तब वे उल्टे पाँव चुपचाप अपने शयन-कक्ष की ओर लौट आते और प्रतीक्षा में बैठी हुई अपनी पत्नी से व्यथित-स्वर में कह बैठते—'सब व्यर्थ है, जानकी। हमारा और उसका रास्ता बिलकुल अलग-अलग है। हमारी इच्छा उसे मान्य नहीं हो सकती। उसका सुख, हमारा सुख न हो सकेगा।"

"तब जानकी देवी अपने आँसू पोंछकर कहती—'मैंने जब माँ से सन्तान माँगी थी, तब शायद जल्दी में उसने आस-पास के भूतों में से किसी एक को उठा कर मेरी कोख में डाल दिया। मैं ऐसे पुत्र की माँ नहीं बन सकी जो अपने पिता को सुख पहुँचाए।

"अनंतय्या फिर जब दुर्ग आते, तब उन्हें ये सब बातें मालूम होतीं। उस समय वे अपनी बहिन को समझाते—'जानकी, भगवान की लीला को समझना बड़ा कठिन है। जिस प्रकार कड़वी दवा में रोग दूर करने की शक्ति होती है, उसी प्रकार उन बातों में भी हमारा हित छिपा हुआ हो तो क्या पता, जो हमें अरुचिकर मालूम होती है। वेंकटसुब्बू चाहे ज्योतिषी बने, चाहे गायक, अगर वह अपने घर की इज़्ज़त रख लेता है तो बस है। हमें इतना ही देखना चाहिए कि दीपक से प्रकाश मिलता रहे, न कि उस में कौनसा तैल रहता है, एरंडी का या चन्दन का?

"इसी तरह वे अपने भानजे से भी कहते—वेंकटसुब्बू, अपने कुल का नाम न बिगड़ने पाए। अगर तुम्हें अपनी कुल-विद्या नापसन्द है तो कोई बाब नहीं है। तुम जो सीखना चाहते हो, उसी में अपने पिता की तरह नाम कमाओ। अथो भ्रष्ट—तथो भ्रष्ट होकर घर के लिए काँटे न बनो।

"तब वेंकटसुब्बय्या सोचने लगते—ज़रूर मेरे ही किसी व्यवहार से पिता जी नाराज़ हैं। तभी तो...। और वे फिर तत्परता पूर्वक अपना काम करने लग जाते। इस तरह समय बीतता गया। अनंतय्या के ज़ोर देने पर ही जोशी जी ने अपने लड़के को तिरुमलय्या के पास संगीत सीखने भेजा था। वेंकटसुब्बय्या ने, दो-एक बार अपने

मामाके सामने तिरुमलय्या की अहंवृत्ति और दूसरों को तुच्छ समझने के दुर्गुणों की चर्चा की थी। तब भी उन्होंने उन्हें समझाया था कि बड़ों के दोष देखना बच्चों के लिए अनुचित है। तुम्हारे जैसे ज्ञान-पिपासुओं को चाहिए कि अपनी ग़लतियाँ देखकर आगे बढ़ें, न कि दूसरों की ग़लतियाँ देखते फिरें। इस पर भी अपने गुरु के अवगुण देखना बड़ा भारी अपराध है।' यह कहकर उन्हें चुप कर दिया था।

"पर इसकी उपेक्षाकर, वे तिरुमलय्या से उलझ पड़े थे। उनकी मृत्यु का कारण भी वे ही थे। अब इसी बात के दुःख से छुटकारा पाने का उपाय, वे अनंतय्या से पूछे, यह कैसे संभव था? आख़िर वे किस मुँह से उनसे बात करें? उन्हें डर था कि कहीं वे भी मेरे नीच व्यवहार के कारण, मुझ से मुँह मोड़ लें तो? तब मैं अपने एक मात्र हित-चिंतक से भी वंचित हो जाऊँगा। एक ओर उन्हें यह चिन्ता थी, दूसरी ओर संगीत सीखने से वंचित हो जाने का दुःख — वे इन्हीं दोनों के बीच पिसे जा रहे थे। किन्तु अन्त में उन्होंने निश्चय किया कि अब चाहे जो हो, अपने मामा से तो सब कुछ कहना ही चाहिए। यदि उन्होंने कोई रास्ता दिखाया तो ठीक है, अन्यथा फिर भगवान का सहारा तो है ही।

"अनंतय्या के दुर्ग आने पर उन्होंने उनके सामने सब कुछ कह सुनाया।

"सत्य कहने से किसी का मन दुखेगा—यह सोचकर हमें सत्य की हत्या नहीं करनी चाहिए। लेकिन साथ ही अप्रिय सत्य भी नहीं कहना चाहिए। उपनिषदों में कहा गया है कि— 'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।' हाँ, तुम्हारी सत्यवादिता अपने गुरु के लिए प्राण-घातक सिद्ध हुई।

ख़ैर, जो हुआ सो हुआ। अब आगे क्या करने का विचार है?" अनंतय्या ने पूछा।

"मुझे यह नहीं सूझ रहा है कि अब क्या किया जाय! मैंने यह नहीं सोचा था कि ऐसा हो जायगा। एक तरफ़ गुरु खो बैठा हूँ, दूसरी तरफ़ पिता जी भी नाराज़ हैं। इधर मुझे शिष्य बनाने से भी सब कतरा रहे हैं। ठीक वैसे ही, जैसे मूल नक्षत्र में उत्पन्न किसी लड़की को, अपनी पुत्र-वधू बनाने से लोग कतराते रहते हैं। आज मेरे सीखे हुए राग भी मेरा साथ नहीं दे रहे हैं। पता नहीं ऐसा गुरु के शाप से हो रहा है या किसी और कारण से। पर है कुछ ऐसा ही। अब करूँ भी तो क्या करूँ? मैं बड़ा अभागा बन गया हूँ मामा जी! अब कौनसा सहारा रहा!" इस तरह उन्होंने अपनी सम्पूर्ण व्यथा, रोते हुए, बातों के रूप में सामने रख दी।

"रोओ नहीं, अब क्या करना चाहते हो, यह कहो।"

"मुझे कुछ नहीं सूझ रहा है। सब से कटकर अलग पड़ गया हूँ। इसकी अपेक्षा आत्महत्या करलेना अच्छा है। और कोई चारा भी नहीं है।"

"आत्महत्या कायरों का अन्तिम सहारा है; वह पौरुष का परिचायक नहीं। बहादुरों की तरह प्रतिकूल परिस्थितियों का जाल तोड़ फेंकने के बदले, यह क्या कायरों की-सी बातें कर रहे हो! उससे क्या बन सकता है!"

"तब और क्या करूँ? सब से तिरस्कृत होकर मैं कहाँ जाऊँ?"

"रोने और कापुरुष बनने से क्या लाभ? हमने जिसे तुम्हारा गुरु चुना, उनके साथ तुम्हारी पटरी नहीं बैठी। अतः अब तुम्हीं

अपने गुरु का चुनाव करलो। जब वे मिल जायँ तब उनके चरणों में बैठकर विद्या प्राप्त करो और अब तक उद्दंडता का जो दंड भोगा है, आगे के लिए उससे सबक़ सीखो।

"पर मामा जी, यहाँ तो कोई भी मेरा गुरु बनने के लिए तैय्यार नहीं है।"

"आज नहीं तो कल, कभी न कभी कोई मिल ही जायगा। भविष्य का किसे पता है। ज़रा सब्र रखने की ज़रूरत है। जिस दिन तुम्हारा पुण्योदय होगा, उस दिन अपने आप तुम्हें गुरु मिल जायँगे। लेकिन तब तक अपनी छाती पर शिला रखे, तुम्हें सन्तोष करना होगा। रोने और विफलता के आँसू बहाने से कोई परिणाम नहीं निकल सकता। अच्छा, एक बात और।"

"क्या?"

"किसी भी अवांछनीय व्यक्ति को अपना गुरु न बना लेना। यदि कोई आग्रह करे, तब भी नहीं। अपना जीवन सिर्फ़ उसी के हाथों में सौंपना, जिसे तुम्हारा हृदय, मस्तिष्क और आत्मा स्वीकार करे, ताकि वह तुम्हारे जीवन को अपने हाथों की वीणा बनाकर उसे झंकृत कर दे। इस प्रकार शरण में जाना ही साधना की नींव है। तुम्हारा मन अगर पतंग की तरह न डोलकर नक्षत्र-कांति की तरह निश्चल हो तो तुम्हारी यह कामना भी पूरी हो सकती है। आज की घटना तुम्हारे जीवन के लिए शिक्षा देनेवाली बने। आज का पश्चात्ताप कल के जीवन और चरित्र का सहारा बने। बोलो, ऐसा करोगे न? संतों ने भी कहा है— 'बिनु गुरु-सेवा, मुक्ति न मिलहीं।' इस उपदेश को गाँठ में बांध लो।"

"मैं भगवान की शपथ लेकर कहता हूँ कि ऐसा ही करूँगा। लेकिन मामा जी, क्या मुझे गुरु मिल जायँगे?"

"ज़रूर मिलेंगे वेंकटसुब्बू, निराश होने की आवश्यकता नहीं है। देखो, हमारी इच्छा भी एक शक्ति है—अत्यन्त प्रबल। सान पर चढ़ाने से जैसे-जैसे छुरा तेज़ होता जाता है, हमारी इच्छा भी तीव्र होने के साथ-साथ उसी प्रकार बलवती होती जाती है। धरती के अधिक गरम होने से वर्षा हो ही जाती है। उसी तरह इच्छा तीव्र होने पर वह फल-दायिनी हो जाती है।

"आकांक्षा तो है मामा जी, पर उसे तीव्र बनाने का क्या मतलब है?"

"मानलो कि तुम्हारे मन में एक नहीं अनेक आकांक्षाएँ हैं। जैसे भोजन करने की, हम सब का प्रेम-पात्र बनने की, संगीत सीखने की और गुरु पाने की। है न? इसी तरह खोजने पर और भी अनेक आकांक्षाएँ निकल आयँगीं। अब सुनो, डोरी किस तरह मज़बूत बनाई जाती है, तुम्हें मालूम है?"

"नहीं, कैसे बनाई जाती है?

"अकेला तार हमेशा कमज़ोर रहता है। यदि उसके साथ वैसे ही और दस-पाँच कमज़ोर तार मिलाकर एक में बट दें तो मज़बूत डोरी बन जाती है। इसी तरह यदि तुम भी अपनी सब आकांक्षाओं को किसी प्रधान आकांक्षा के साथ मिलाकर बट दो तो वह अत्यन्त तीव्र बन जायगी। अब तुम यह अनुभव कर सकते हो कि गुरु के बिना तुम्हारा उद्धार असम्भव है, क्यों?"

"जी।"

"हाँ, वही प्रधान आकांक्षा, मूल तार है। अब दूसरे आकांक्षा रूपी तारों को भी उसके साथ मिलाकर बट दो। जिस प्रकार डोरी बट जाने पर सभी तार उसमें समा जाते हैं और अलग-अलग नहीं दिखाई देते, उसी प्रकार अपनी शेष आकांक्षाओं को मूल आकांक्षा के साथ यों मिलाकर बट दो कि वे सब मिलकर, एकाकार हो, गठित हो जायँ। तब तुम्हारी आकांक्षा खुर्दबीन से गुज़रनेवाली प्रकाश-किरणों की तरह अधिक प्रभावशालिनि बन जायगी। जिस प्रकार खुर्दबीन के ज़रिये अनेक किरणों को आकर्षित कर, उन्हें एकता-बद्ध कर, उनका सन्धान किया जाता है, उसी तरह तुम भी अपनी आकांक्षा का संधान करो। ऐसा करने पर ही उसे फलप्रद बनाने की शक्ति आयगी।"

"उनकी बातों से वेंकटसुब्बय्या को एक नये प्रकाश का आभास हुआ। अपनी आकांक्षा को फलदायिनी बना लेने का ढंग अब तक उन्हें विदित न था। यह ढंग अनंतय्या के मुँह से जानकर उनके अचम्भे का कोई ठिकाना न रहा। उसी आश्चर्य के साथ उन्होंने फिर पूछा—क्या सचमुच ऐसा होगा, मामा जी!"

"हाँ, हाँ, इस में क्या शक है! तुम तो सिर्फ़ गुरु की ही बात करते हो, लेकिन इस तरह तो भगवान को भी पा सकते हैं। तन्मयता, एकाग्रता और समाधि—ये सब इसी के अलग-अलग नाम हैं। पूजा-पाठ, जप-तप और मूर्ति-पूजा आदि भिन्न-भिन्न आकांक्षाओं को एक बनाने के साधन हैं। ख़ैर, ये सब बातें तुम्हारी पहुँच से बाहर की हैं। शायद तुम्हारी समझ में न आयँ। इसलिए तुम इतना ही याद रखलो। तुम्हें गुरु चाहिए न? बस ठीक है। उसी के बारे में सोचो। मन को इधर उधर न भटकने दो। और कुछ नहीं। फिर

देखना कि तुम्हारी कामना पूरी होती है या नहीं।"

"अनन्तय्या की बातें डूबते हुए के लिए एक सहारा सिद्ध हुईं। उसी दिन से वेंकटसुब्बय्या ने गुरु के बारे में सोचना शुरु करदिया। उन्हें आठों पहर गुरु प्राप्त करने की चिन्ता रहने लगी। सवेरे उठते ही भगवान से गुरु का साक्षात्कार करवाने की प्रार्थना करते। रात को सोने से पहले भी वे यही प्रार्थना करते—'हे दयामय, जिस गुरु के दर्शन आज न हुए, कल ज़रूर हों।"

"पश्चात्ताप से तपे उनके कोमल हृदय में, जोते हुए खेत में बोये गये बीज की तरह, अनन्तय्या की बातें गहरी पैठ गईं। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, उनकी आकांक्षा भी बलवती होती गई। हृदय में आकांक्षा, प्रतीक्षा और आतुरता के बढ़ने से, उनका चेहरा भी पील पड़ गया था। न खाने-पीने का ख्याल रहता, न पहनने-ओढ़ने का। दृष्टि, सदा खोई-सी रहती। मुख पर पहले जैसा तेज भी न रह गया था। उन्हें देखनेवाले लोग सैकड़ों बातें करते। कोई कहता—'हो न हो, वेंकटसुब्बय्या को ज़रूर कुछ हो गया है। शायद तिरुमलय्य की मौत का असर पड़ा होगा।' पर समय के साथ उनकी सहानुभूति भी बढ़ती गई। कई लोगों ने उनके माँ-बाप को समझाया — 'जोशी जी, जल्दी से कोई ग्रहशांति या और कुछ करवाइये, वर्ना क्या पता, कहीं लड़का ही हाथ से खो बैठें।' इस नयी चिंता से, जोशी जी और जानकी देवी, दोनों जलने लगे। उनसे न चुप रहते बनता था और न ज़ोर देकर पूछते ही। उन्हें डर था कि पूछने से कहीं कोई नयी आफ़त आ जाय तो? बेटे का मुँह देखकर माँ का कलेजा बैठ-सा जाता। कभी-कभी वह पूछ बैठती—'बेटा, आख़िर तुझे क्या हो गया है?'

"क्यों, क्या हुआ माँ?" वेंकटसुब्बय्या चौंककर बोलते, जैसे उन्हें कुछ मालूम ही न हो।

"यह भी अच्छी रही! यदि कोई नौजवान लड़का खाना-पीना छोड़कर, पागलों की तरह इधर-उधर मारा-मारा फिरे, तो उसे क्या कहना चाहिए? शायद तू यह सह सकता है, पर माँ का मन इसे कैसे सहे?" जानकी देवी आँसू पोंछकर कहती।

"मुझे क्या हुआ है माँ, बिना किसी मतलब के रो रही हो, मैं ठीक हूँ। तुम व्यर्थ की चिंता क्यों करती हो?"

"तू कहता तो है कि मुझे कुछ नहीं हुआ है। तब फिर दिन-रात तू क्या सोचता रहता है? तुझे तो इतनी भी ख़बर नहीं रहती कि हाथ का कौर मुँह में जा रहा है या नाक की तरफ़। तुझे देख-देखकर वे भी घुले जा रहे हैं......।"

"लो, अब मैं क्या बताऊँ। यह सिर्फ़ तुम्हारा वहम है और कुछ नही। मैं तो भला-चंगा हूँ। तुम व्यर्थ क्यों घबराती!"

"इस तरह वेंकटसुब्बय्या अपनी माँ को समझाते। लेकिन माँ की ममता माने तब न?

"वह बराबर सोचती रहती — इसे अगर कुछ दिनों के लिए किसी बाहर की बस्ती में भेज दें, तो शायद यह ठीक हो जाय। पड़ोस की औरतें उसे कहतीं—'सुब्बू की माँ, जल्दी से उसकी शादी कर दो तो सब ठीक हो जायगा।' इस बात को ठीक मानकर जानकी देवी बेचारी इसे अपने पति के कानों तक पहुँचा देती। अपने बेटे के ख़ातिर, वह हज़ार बातें सोचती रहती। उधर वेंकटसुब्बय्या को सिर्फ़ एक ही चिंता थी—'गुरु कब मिलेंगे? मेरी साधना कब पूरी होगी?'

" इसी प्रकार आठ-दस महीने बीत गये।

" एक दिन की बात है। चाँदनी रात का सुहावना समय था। वेंकटसुब्बय्या छत पर लेटे हुए थे। लगभग आधी रात का समय होगा। धरती पर दूध-सी चाँदनी फैली हुई थी। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। कभी–कभी क़िले के पहरेदारों की ध्वनि 'जागते रहो' उस सन्नाटे को भंग कर देती। गर्मी की ऋतु होने के कारण, चन्द्रमा की शीतल किरणें, अधिक उज्वल हो गई थीं; और उधर हवा की 'साँय-साँय' भी बंद हो गई थी। वेंकटसुब्बय्या पूर्णिमा की उज्वल कांति में, परदे की आड़ में छिपे-से टिमटिमाते तारों को निर्निमेष निहार रहे थे। अनन्तया की बातें, सदैव की भाँति आज भी उनके भावों को उत्तेजित कर रही थीं। आँखें आकाश पर गड़ी हुई थीं और उनका अन्तःकरण भीतर ही भीतर धधक रहा था।

" वे, न जाने कब तक उसी तरह पड़े रहे। सहसा मंद पवन के किसी झोंके के साथ, उन्हें किसी संगीत की मधुर ध्वनि सुनाई दी। उस ध्वनि के सुनते ही, वे चौंककर बिछौने पर उछल पड़े। जिस तरह शेर की आहट पाकर हरिणी उसकी टोह लेने लगती है, उसी तरह वे भी ध्वनिवाली दिशा को खोजने लगे। संगीत की ध्वनि, कहीं दूर से, हवा की लहरों पर थिरकती हुई आ रही थी।

" अहा, कैसी मधुर ध्वनि है! उस में शहद जैसी मिठास है। इसी के अनुरूप स्वर–संचार और माधुर्य से मेल खाती गंभीरता भी। राग-विस्तार, मैदानी प्रदेश में बहनेवाली गहरी और विशाल नदी की भाँति, गंभीरता से हो रहा था। या यों कहा जाय कि उसकी गति किसी ऐसी दिव्य सौंदर्यमयी साम्राज्ञी की हंस–गति के समान मनोहर

और मन्थर थी, जो दास-दासियों से युक्त राज्य-गौरव को, अपनी आँखों की कोर में छलकती प्रसन्न दृष्टि से, गंभीरता पूर्वक स्वीकार करती हुई आगे बढ़ रही हो। उतार-चढ़ाव और वक्र चाल में भी अपनी लीक न छोड़नेवाली गंभीर लय-बद्धता, बराबर प्रगट होती रहती थी। उस राग का भाव श्रोता के हृदय-पटल पर यों चित्रित हो रहा था, मानो यक्ष-संदेश का कुसुम-भार लिये हुए मलयानिल के झकोरों पर तैरता हुआ मेघ हो। उसका अवरोहण, पुष्प की सीढ़ियों पर उतरती हुई पल्लव-पाद-युक्त किन्नर-कन्या की कोमलता को भी मात कर रहा था। उसे सुनने पर हृदय के भाव यों प्रज्वलित हो उठे, जैसे हवा के स्पर्श से स्फुलिंग-कण। उस मधुर स्वर को, प्रियतमा की तरह आलिंगन पाश में ले लेने की उत्कट कामना जाग उठी, जो एक मूक व्यथा बनकर उनके हृदय को आन्दोलित करने लगी। उस समय वेंकटसुब्बय्या को ऐसा लगा मानो किसी ने उन्हें बाँधकर अपनी ओर खींच लिया हो। जैसे किसी झरने के किनारे हरियाली पर लेटी, मुँह बढ़ा कर शीतल पानी से प्यास बुझाती हुई हरिणी को एकाएक कोई शिकारी अपना फन्दा डालकर खींचने लगे। ऐसा भव्य गान उन्होंने पहले कभी नहीं सुना था।

"उन्होंने, अपने कानों में मधुर स्वर की भनक पड़ते ही, आत्मसमर्पण कर दिया था। पर अब उनका तन भी मन के साथ ही जाने के लिए उतावला हो उठा। वे तत्क्षण अपना दुशाला कन्धे पर डाल, उस दिशा में चल पड़े, जिधर से संगीत की ध्वनि आ रही थी।

"हवा चलने पर स्वर अधिक स्पष्ट हो जाता। पर जब वह रुक जाती तब ध्वनि भी मन्द हो जाती। बच्चे जिस प्रकार पागल

होकर चंचल पतिंगे के पीछे पड़ जाते हैं, उसी प्रकार वेंकटसुब्बय्या भी उस स्थान को खोजने की चेष्टा करने लगे।

"नगर के बाहर, रंगय्या के फाटक से कुछ दूर, पूर्णय्या की पुरानी धर्मशाला है। वहीं नायकों के ज़माने में गुसाँइयों की सराय भी थी। नगर में दिन भर भीख माँगकर पेट भरनेवाले जोगी-जंगम और दूसरे भिक्षुक रात में वहीं रहा करते वेंकटसुब्बय्या क़िले के पहरेदारों को अपना परिचय देकर, उस संगीत-ध्वनि की खोज में भटकते हुए गुसाँई-सराय के सामने आ खड़े हुए। सराय के आँगन के किसी कोने से वह स्वर फूट रहा था, जैसे कीचड़ में कमल खिला हो। बाहर चाँदनी छिटकी हुई थी। लेकिन वहाँ अँधेरा था। इसलिए गानेवाले की मुखाकृति साफ़ नहीं दिखाई दे रही थी। उस समय वेंकटसुब्बय्या को गायक का मुख देखने की लालसा भी नहीं थी। वे मन्त्रमुग्ध-से संगीत सुनते हुए एक खम्भे के सहारे बैठ गये। उनका चित्त भी मन्त्रमुग्ध सर्प की भाँति परवश था। मस्त हो जाने पर उनकी आँखों से कुछ आनन्दाश्रु निकल पड़े, मानों यह उस संगीत के प्रति उनके हृदय की सर्वोत्तम भेंट थी। उनका हृदय झंझावात में फँसकर काँपती हुई कोंपल की ही तरह, प्रबल भावाघात से कंपित हो रहा था। उन्हें यह ध्यान न रहा कि वे वहाँ कितनी देर से बैठे हैं। पर जब उन्हें यह अनुभव हुआ कि अब गायन समाप्त हो रहा है, तब वे पके फल की तरह उस गायक के चरणों पर जा गिरे।

"गायक ने गाना रोककर वेंकटसुब्बय्या से डपटकर पूछा — कौन है तू?"

"जितना मधुर उसका गायन था, उतना ही कर्कश उसका प्रश्न भी।

वे प्रश्न का कोई उत्तर न दे, अपने आँसुओं से उस गायक के चरण धोते रहे।

"कौन है तू? चल हट यहाँ से।" गायक ने अपने पैर झटकते हुए कहा।

"आप मेरे देवता हैं। मुझे आश्रय दीजिए।" वेंकटसुब्बय्या ने आर्तस्वर से कहा। गायक ज़ोर से हँस पड़ा।

"मैं खुद भिखारी हूँ। तुझे क्या आश्रय दूँ?"

"मुझे अपना शिष्य बनाकर कृतार्थ कीजिए। संगीत सिखाने का अनुग्रह कीजिए।"

"यह सुनना था कि उस आदमी ने, अपने पैरों से लिपटे हुए वेंकटसुब्बय्या को यों झटक दिया जैसे कोई अपने पैरों से लिपटनेवाले साँप को झटकता है। और फिर चीख़ उठा — 'छोड़ दे मेरे पाँव। नहीं छोड़ता? छोड़! नहीं तो अभी तेरा सिर फोड़-दूँगा। छोड़ मुझे!'

"मेरी इतनी तपस्या के बाद आप मिले हैं। अब, जब तक आप मुझे अपना शिष्य बनाने का वचन नहीं देंगे, तब तक मैं आपके पैर नहीं छोड़ूँगा।"

"वचन!...और तुझे?' यह कहकर वह पैर छुड़ाने लगा। जब उसका एक पाँव छूट गया, तब सधकर उसने वेंकटसुब्बय्या के सिर पर एक लात जमाई। उनका सिर पत्थर के फ़र्श से टकरा गया और मुँह से एक चीख़ निकल पड़ी। दर्द से उनके हाथ ढीले पड़ गये। उसी समय वह गायक, वेंकटसुब्बय्या के कर-पाश से निकल, कोने में पड़ी अपनी झोली उठाकर, वहाँ से बेतहाशा दौड़ता हुआ चल दिया। क्षण भर बाद, वेंकटसुब्बय्या सँभल कर उठ बैठे। गायक को

भागते देखकर वे भी उसके पीछे-पीछे दौड़ पड़े। उनकी अंतरात्मा पुकार-पुकार कर कह रही थी—'बस, यही तेरे गुरु हैं। इन्हें मत छोड़ना!'

"आगे-आगे वह जोगी और पीछे-पीछे वेंकटसुब्बय्या—दोनों चळ्ळकेरे की सड़क पर दौड़े चले जा रहे थे। बाद में पक्की सड़क पारकर, मदकरिपुर की घाटी का रास्ता पकड़ लिया। ऊँचाई पर दौड़ने की थकावट से या कहीं ठोकर लगने की वजह से, जोगी गिर पड़ा। कई मीलों का रास्ता तय करने के कारण, जोगी के मुँह से फेन निकल रहे थे—जैसे घोड़े के मुँह से निकला करते हैं। वह बेभान था। जब वेंकटसुब्बय्या ने यह देखा तो अपने कन्धे से चादर उतारकर उसके नीचे बिछा दी और उसके माथे पर गीला कपड़ा डाल दिया। कुछ देर बाद जोगी को होश आया। उसने वेंकटसुब्बय्या को दुश्मन की तरह घूरकर देखा और फिर बड़बड़ाने लगा—'चांडाल! पापी! चला जा यहाँ से! मुझे कोई शिष्य नहीं चाहिए। शनीचर कहीं का! तू मेरी मौत बनकर आया है।' कहते-कहते उसने क्रोध में आकर, वेंकटसुब्बय्या को एक चाँटा जड़ दिया।

"तू भले ही मर जा। लेकिन मैं तुझे गाना नहीं सिखाऊँगा। किसी को नहीं सिखाऊँगा। आग लगा दूँगा संगीत को। भाड़ में झोंक दूँगा उसे। गाना, संगीत, सब नष्ट हो जाय—यों वह पागल की तरह चीख़ने-चिल्लाने लगा। वह कभी रोता, कभी चिल्लाता और कभी भयंकर अट्टहास कर बैठता, जिससे चाँदनी में सोई हुई पहाड़ियाँ भी सिहर उठतीं।

"वेंकटसुब्बय्या उसका व्यवहार बिलकुल नहीं समझ पाये। क्षण भर

उन्हें अपने ही ऊपर सन्देह हो उठा—'कहीं मैं गाने से प्रभावित हो, इसके पीछे पागल तो नहीं हो गया?' पर दूसरे ही क्षण उन्हें लगा– 'शायद ये मेरी परीक्षा कर रहे हैं।' इधर उनकी अन्तरात्मा यही पुकार-पुकार कर कह रही थी—'ये ही तेरे गुरु हैं। इस बार चूका तो सदा के लिए वंचित रह जायगा।' उधर वह जोगी उसी तरह लगभग आधे घन्टे तक बड़बड़ाता रहा; फिर गहरी नींद में पड़ गया। उस समय वेंकटसुब्बय्या ने सोते हुए जोगी का गंभीर मुख, चाँदनी के प्रकाश में देखा। सफ़ेद खुरदरी दाढ़ी, घनी भौंहें, पीठ तक फैले उलझे हुए सफ़ेद बाल—उसकी यह आकृति उसे किसी और लोक का जीव बतला रही थी। इस स्वरूप को देखकर गन्दी गालियाँ और डरावने चेहरे का ख्याल, उनके दिल से हट गया। इन बातों के स्थान पर उनके मन में एक प्रकार का आत्मीय-भाव पैदा हुआ। उन्होंने जोगी का सिर ज़मीन से उठा कर अपनी गोद में रख लिया। उस समय उनका मन तरह-तरह के विचारों में गोते खाने लगा...'तो क्या यही गा रहा था! हड्डियों के इस सूखे ढाँचे में रस का वह सोता कहाँ छिपा होगा? इसके विचित्र व्यवहार का क्या कारण है?' आदि बातें उन्हें सताने लगीं।—'कौन होगा यह आदमी? यह गन्धर्व सदृश गायक, जोगी बनकर क्यों भटक रहा है? गाना सिखाने का पूछता हूँ तो पिशाच की तरह अट्टहास क्यों करता है?'—इस तरह के हज़ारों सवाल उनके दिमाग को परेशान करने लगे। वे उसी तरह चुप बैठे रहे। रात के अन्तिम प्रहर में तुषारापात से उनका शरीर काँप रहा था। लेकिन विचारों में डूबे रहने के कारण उन्हें इसका ध्यान तक नहीं आया।

"धीरे-धीरे, चाँदनी फीकी पड़ती गई और उषा काल का प्रकाश बढ़ने लगा। जिस समय पूरब दिशा में लाली फैल गई, उस समय जोगी की आँखें खुलीं। वह उठते ही, वेंकटसुब्बय्या से बातें करना तो दूर, उसकी ओर ताके बिना ही झोली लटका कर चल पड़ा। वेंकटसुब्बय्या भी उसके पीछे-पीछे चलने लगे। कुछ दूर जाने के बाद उसने मुड़ कर कहा—'मेरे पीछे मत आओ' और फिर जी भर कर गालियाँ देना शुरू कर दिया। लेकिन वेंकटसुब्बय्या भी नहीं रुके। वे चलते-चलते दोनों रामजोगी गाँव के समीप पहुँचे। तब तक दोपहर हो गई थी। जोगी एक पेड़ की छाया में बैठ गया और झोली से बरतन निकाल कर वेंकटसुब्बय्या की तरफ़ बढ़ाता हुआ बोला—'कहीं जाकर थोड़ा खाना ले आ। मुझे भूख लगी है।' वेंकटसुब्बय्या गाँव में से थोड़ा खाना माँग लाए। इसके सिवा और कोई चारा भी न था। जोगी बरतन लेकर बैठ गया। वे जो कुछ लाये थे, सब अकेला ही खा गया। बेचारे वेंकटसुब्बय्या से इतना भी नहीं पूछा कि तूने खाया कि नहीं? फिर वह भोजन कर लेने के बाद आराम से टाँगें फैलाकर सो गया। वेंकटसुब्बय्या, जो भूख और थकावट से चूर थे, सब कुछ भूलकर स्वयं भी लेट गये।

"कुछ देर बाद फिर दोनों ने अपनी यात्रा शुरू कर दी। शाम होने पर जब वे एक गाँव में पहुँचे, तब जोगी ने फिर बरतन निकाल कर देते हुए कहा—'कहीं से थोड़ी शराब ला दे।'

"शराब कैसे लाऊँ? मेरे पास पैसे तो है ही नहीं।" वेंकटसुब्बय्या ने उत्तर दिया।

"अपनी चादर बेच दे; नहीं तो तेरे कानों के कुंडल जो हैं।

तू कुछ भी कर; मुझे इससे क्या? वर्ना मेरे पीछे मत पड़।" जोगी ने डाँट कर कहा।

"वेंकटसुब्बय्या विवश हो चल पड़े। उन्होंने अपने कुंडल बेचकर दूकानदार से शराब ख़रीदी। बचे हुए पैसे पास रख लिये। जोगी ने पेट भर कर शराब पी, फिर वह वेंकटसुब्बय्या को गालियाँ देता हुआ सो गया। पहले वेंकटसुब्बय्या को उसके लिए भीख माँगनी पड़ी थी, अब अपने लिए भी वैसा ही करना पड़ा। पर उन्हें भिक्षान्न से पेट भरना ज़रा भी नहीं रुचा। उन्होंने अपने पास के पैसों से कुछ दूध और फल-फूल ख़रीदे तथा खा-पी कर सो गये।

"जिधर मुँह उठता, उधर ही चल देते। इस तरह उनकी यात्रा आगे बढ़ने लगी। जोगी के बर्ताव से ऐसा मालूम होता था कि वह शायद वेंकटसुब्बय्या की थाह ले रहा है। वह उनसे भीख मँगवाता, पैर दबवाता और रही-सही कसर पूरी करने के लिए गालियों की बौछार शुरू करदेता। उसका विचित्र-व्यवहार देखकर वेंकटसुब्बय्या के मन में कभी क्रोध उत्पन्न होता तो कभी जुगुप्सा; अथवा कभी दुख तो कभी दया फिर भी बेचारे सब कुछ सहते रहे। उन्होंने अपने मुँह से कभी उफ़ तक नहीं की। जोगी कभी-कभी शराब या भंग के नशे में गाने लगता। उसका गायन वशीकरण-मन्त्र के समान था। वह जब गाने लगता तब उसके घिनौने व्यवहार और गन्दी गालियों की स्मृति नहीं रह जाती। उस समय एक नूतन लोक की सृष्टि हो जाती—ठीक उसी प्रकार, जैसे किसी ऐन्द्रजालिक के स्पर्श से बयाबान भी नन्दन-वन की तरह खिल उठता है। वेंकटसुब्बय्या सब कुछ भूल कर संगीत सुनने में तन्मय हो जाते। इसी तरह कुछ महीने बीत गये।

"अन्होंने सैकड़ों गाँवों की ख़ाक छान डाली थी। चलते-चलते दोनों ही एक ऐसे प्रदेश में जा पहुँचे, जिसका वेंकटसुब्बय्या ने कभी नाम भी नहीं सुना था। लेकिन उस जोगी ने कभी एक बार भी यह नहीं कहा कि मैं तुझे संगीत सिखाऊँगा, या आज से तू मेरा शिष्य हुआ। वह बेकार ही उन्हें कोल्हू का बैल बनाकर घुमा रहा था।

"वेंकटसुब्बय्या माँ-बाप के दुलार में पले थे। वे घर-घर भटकने और भीख के टुकड़े खाने के आदी नहीं थे। जोगी की तो कोई बात नहीं, घूमते-रखड़ते रहने से उसका शरीर, करील के सूखे ठूँठ जैसा बन गया था। ज़्यादा थक जाता तो शराब पी लेता। लेकिन बेचारे वेंकठसुब्बय्या क्या करते? वनवास की-सी कठिनाइयाँ और बार-बार के उपवास, उनका शरीर कहाँ तक सह सकता था? अन्त में एक दिन दोपहर को उनके शरीर ने जवाब दे दिया। आँखों में अँधेरा छाकर साँसें गर्म हो उठीं। सिर चकराने लगा और वे चलते-चलते रास्ते में ही मूर्छित होकर गिर पड़े।

"उन्हें बिलकुल पता नहीं चला कि वे कितनी देर तक उसी दशा में पड़े रहे। जब ठण्डी हवा के झोंकों से उनकी आँखें खुलीं तभी उन्होंने अपने चारों ओर देखा। निर्जन वन्य-प्रदेश में वे अकेले थे। उन्होंने उठने की कोशिश की लेकिन उनका सिर लट्टू की तरह चकराने लगा। उनसे न तो उठते ही बनता था, न बैठते ही। बुख़ार की तेजी से गला भी सूख गया था। प्यास, ज्वाला बन कर दहक रही थी। उन्होंने पड़े-पड़े ही व्याकुल दृष्टि से यह जानने का प्रयत्न किया कि जिस जोगी को वे गुरु बनाने के लिए यहाँ तक चले आये थे, कहीं अब तक बैठा तो नहीं है? पर वहाँ कोई भी नहीं

दिखाई पड़ा। शाम की धुँधली छाया में हवा के साथ मर्मर-ध्वनि से बातें करती हुई पत्तियों के अलावा और किसी की आवाज़ नहीं सुनाई दे रही थी। घोंसलों में बैठे हुए पक्षियों के पंख फड़फड़ाने की आवाज़ रात्रि के निकट आ जाने की सूचना दे रही थी।

"वे बड़ी देर तक यह सोचते रहे कि शायद गुरु जी अब आने ही वाले हैं। उन्हें विश्वास था कि वे उसको इस हालत में छोड़कर नहीं जायँगे। इसी विश्वास के बल पर वे अपने हृदय को यह आश्वासन देते रहे, जो भय के मारे फटना ही चाहता था। फिर उन्होंने अपने आस-पास नज़र दौड़ाई। पर वे कुछ नहीं समझ पाए कि यह कौनसा जंगल है और कहाँ का रास्ता है। सिर्फ़ अंधे की तरह उस जोगी के पीछे हो लिये थे। अब कौन है उनके साथ? कोई नहीं—अनजानी जगह और वे अकेले।

"धीरे-धीरे पश्चिम दिशा की रही सही पीली किरणों भी अँधेरे की ओढ में समा गईं। उन्हीं के साथ उनके मन की बची-खुची आशा भी डूब गई। अब अंधकार के साथ-साथ भय भी बढ़ने लगा। अपनी नीलिमा खोये हुए कोयले के धुँए के समान काले बादलों में, टिमटिमाते तारे, काले-काले डरावने पेड़ और सरसराती हवा—ये सब उनके भय को और बढ़ा रहे थे। इस पर नस-नस को तोड़ देनेवाले ज्वर और भयंकर प्यास के कारण ऐसा लगा, मानो उनका अंतकाल अब समीप ही है। संगीत-साधना के सुनहले स्वप्न को साकार बनाने के लिए उद्यत् जीवन का ऐसा दुखान्त! उस समय उन्हें अपने घर-बार, माँ-बाप और बस्ती की याद भी आगई। वे तड़पते हुए सोचने लगे—'क्या मेरी लाश भी, किसी सुनसान जगह में पड़ी, भिखारी की

लावारिस लाश की भाँति, कुत्तों और गिद्धों के ही काम आयगी ?' सोचते-सोचते उनकी आँखों में विवशता-सूचक गरम-गरम आँसू आगये।

"उसी समय सहसा, तिरुमलय्या जी की मृत्यु की याद आ गई। वे सोचने लगे—'कहीं उसीका परिणाम तो मुझे नहीं भोगना पड़ रहा है ?' एक बार उन दहकती स्मृतियों के आ जाने पर उन्हें ऐसा महसूस हुआ, मानो सैकड़ों-हज़ारों तप्त हाथ उनके मस्तिष्क को दबोच रहे हैं। फिर यह विचार आया—'यह ठीक ही तो है। एक गुरु-द्रोही की मृत्यु और किस तरह की हो सकती है !' उस ज्वराक्रान्त प्रक्षुब्ध मस्तिष्क को, सुनसान जंगल में यों मरना, अपनी आकांक्षाओं का अन्त दिखाई पड़ा। वे क्षण भर के लिए, अज्ञात भय से त्रस्त बच्चे की तरह, बिलख पड़े। उनके सूखे हुए कण्ठ में रोने की शक्ति भी नहीं रह गई थी। बिना सिसकियाँ भरे ही आँसू झरने लगे।

"उन्होंने सोचा—'जब मरना ही है तो क्यों न शांति और धैर्य के साथ ही अपने को मौत के शीतल हाथों में सौंप दिया जाय ! मैं संगीत-साधना के लिए यहाँ तक आया था। अतः क्यों न गाते-गाते ही मृत्यु की गोद में सो जाऊँ ?... ऐसी परिस्थिति में एक अनाथ, असहाय भक्त और क्या चाहता है ! मरण-वेला में घबराने की अपेक्षा क्या भगवान का ध्यान करते हुए आख़िरी साँस लेना श्रेयस्कर नहीं होगा ? अवश्य ही......मुझे गाना चाहिए ...... मैं ज़रूर गाऊँगा ...... मेरी अन्तिम साँस तक गीत के साथ हवा में मिल जाय ......।

"जैसे बुझती हुई लौ, अचानक प्रबल रूप से प्रकाशित हो उठती है, वैसे ही वेंकटसुब्बय्या के थके-माँदे शरीर में नवीन शक्ति का संचार हो गया। वे झटके के साथ उठ बैठे, मानो शरीर में पैठे हुए ज्वर

को दूर फेंक रहे हों। संगीत छिड़ गया—अदृश्य तानपूरे के सुर के साथ अपना सुर मिलाकर, स्वर की नाव में हृदय का समूचा बोझ उँडेल, पवन-तरंगों पर बहा दिया। जिस शरीर में उठने भर की शक्ति न थी, उसमें न जाने कहाँ से इतनी सामर्थ्य आ गई थी! मन की पीड़ा, मधुर राग बनकर बहने लगी। उनका विवश-गीत, नीरव और निर्जन भूमि के रिक्त पात्र को भरने लगा। कौनसा राग था, कैसा ताल था—इसकी उन्हें कुछ भी परवाह न थी।

"गाते-गाते आँखों की दृष्टि धुँधली पड़ गई। उन्हें महसूस हुआ, मानो उनके चारों ओर उत्ताल तरंगों का कोई समुद्र लहरा रहा है। वह समुद्र—पृथ्वी से, नक्षत्र-लोक से, अंधकार में अविचल खड़े वृक्षों से, इधर-उधर टिमटिमाते जुगनुओं से, भौंरों की गुंजार से और दसों दिशाओं से निकल कर, आकाश को भी ग्रस लेने के लिए प्रत्येक क्षण उफनता हुआ ऊपर उठ रहा है। उनके हृदय से भी एक प्रकाश-मय सोता फूट निकला है, जो उस समुद्र की लहरों के साथ मिल कर उन्हें और सुन्दर बना रहा है। प्रतिपल भयंकर रूप धारण करनेवाले समुद्र के मुख में, पृथ्वी और आकाश—दोनों ही विलीन होते जा रहे हैं। चतुर्दिक-व्याप्त अंधकार यों चमकने लगा है, मानो उस पर स्वर्ण का रंग चढ़ा दिया गया हो। जिधर देखो उधर प्रकाश फैला हुआ है। या यों कहो कि प्रकाश का समुद्र ही, सम्पूर्ण विश्व को प्लावित कर रहा है। उस अखण्ड प्रकाश से आँखें चौंधिया कर अपने आप मुँदी जा रही हैं। कहीं, भीतर........गहराई में........ उससे भी गहन अन्तस्थल में, कोई प्रचण्ड धारा उसे लिये, पाताल की ओर बह रही है। किसी भँवर में फँसे शीशे के बोझल गोले की तरह,

उसकी समस्त चेतना, दम घोटनेवाले प्रबल वेग से गहराई में उतर रही है। कहाँ....यहाँ कहाँ.....किस ओर, किस लक्ष्य की ओर? कौनसा पथ?......भय........असमर्थता.......आर्तता! विद्युत–वेग से चलनेवाली अंगुलियों के घर्षण से वीणाके तार जिस प्रकार क्रन्दन कर उठते हैं, उसी प्रकार समस्त इन्द्रियाँ क्रन्दन कर रही हैं। माँ के हाथों की तरह, लहरें अपनी ओर खींच रही हैं। मन्द हासमय चमकती हुई स्वर्णिम लहरें, झूले में झूल रही हैं। जलते हुए कर्पूर की तरह, शर्करा के माधुर्य्य की तरह, उनकी समस्त अन्तर्ज्योति —उस ज्योति की आत्मीय-लहरों में घुली जा रही है। फिर अचानक, समस्त ज्योति, आकार और ध्वनि—सब, किसी में विलीन हो गये। एक 'तेजोमय शून्य' दसों दिशाओं में व्याप्त हो गया। शून्य........ मौन.....शून्य। ज्योति में ज्योति, लहर में लहर, और नाद में नाद लय होकर अखण्ड शून्य मात्र रह गया। एक आँधी–सी चली और शरीर काँप उठा। पृथ्वी और आकाश—दोनों थर्राकर एक हो गये....। उन्हें लगा कि किसीने उनके मुँह पर पानी के छींटे डाले हैं। उन्होंने चौंककर अपनी जलती हुई आँखें खोल दीं। उस समय उन्हें महान् आश्चर्य हुआ। उन्होंने देखा कि जो उन्हें निस्सहाय और अकेला छोड़कर चला गया था, वही जोगी अब उनका सिर अपनी गोद में लिये, ज्वर से जलते उनके माथे को अपने अश्रुजल से शीतल करने का उपचार कर रहा है। वेंकटसुब्बय्या को अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने सोचा 'यह भी भ्रम है।' फिर अपने माथे पर फिरते उसके हाथ को अपने हाथों में ले लिया। तब विश्वास हुआ—'हाँ, वही है; जिसे मेरी ज़रूरत न थी, जो मुझसे बातें तक

करना पसन्द नहीं करता था, अब उसी की गोद में मेरा सिर है। यह कैसी लीला है!' आदि। उन्हें कुछ बोलने की इच्छा हुई पर नहीं बोल सके।

"उनकी यह दशा देख, जोगी ने ही बात शुरू की—' मैं बड़ा पापी हूँ। मुझे माफ़ करदे बेटा। मैं कसाई हूँ। तुझे मौत के हवाले कर मैं अकेला चला गया।' आँसुओं के साथ निकली हुई उसकी ये बातें, अन्तःकरण के वात्सल्य-मधु के समान ही मीठी थीं। इतनी जल्दी यह परिवर्तन कैसे हो गया! पल भर में ही सब कुछ बदल गया। इसी आश्चर्य ने उस गूँगे को भी बोलने पर मजबूर किया।

"गुरु जी, मेरा हाथ न छोड़िए। अब आप के सिवाय मेरा और कोई नहीं है।

"नहीं-नहीं, मेरा विश्वास न कर। तुझे मालूम नहीं है कि मैं कैसा निष्ठुर हूँ।

"यह झूठ है; मैं नहीं मानता। आप दयालु हैं।"

"मैं दयालु हूँ?" जोगी ने कटु हँसी के साथ पूछा—"अभी थोड़ी देर पहले ही तू ज्वर से पीड़ित होकर गिर पड़ा था; और मैं यह समझकर कि चलो बला टली, चला गया था। अगर उस समय चल पड़ता तो शायद चला ही जाता। लेकिन किसी अज्ञात शक्ति ने मेरे पैरों में बन्धन डाल दिये। 'उसे मर जाने दो, फिर चलेंगे' यह सोचकर ही मैं यहाँ छिप गया था। पर तेरा संगीत मुझे फिर तेरे पास खींच लाया।

"तो क्या मैं गा रहा था, गुरु जी?" वेंकटसुब्बय्या ने चकित होकर पूछा।

"ऊँ-हुँ, मैं नहीं मान सकता कि वह तू गा रहा था। तू क्या कोई भी मनुष्य वैसा नहीं गा सकता।"

"नहीं, आप मेरा मन रखने के लिए यों कह रहे हैं। मैं तो अभी बच्चा हूँ। आपके संगीत की तुलना में, अगर मैं रत्ती भर भी गा सकूँ तो मेरा जीवन धन्य है। मुझे अपना शिष्य बनाकर संगीत-प्रदान कीजिए।"

"तू तो गुरु बन सकता है, शिष्य क्यों बने ?

"इसी अभिमान ने मेरा सर्वनाश किया है गुरु जी।........ मुझ पर दया कीजिए।" यह कहकर वेंकटसुब्बय्या ने जोगी के चरण छू लिये। उनकी बातो में हृदय की समस्त करुणा केन्द्रित हो गई थी।

"दया करूँ ! मैं दया करूँ ! दया, करुणा, अनुकम्पा — सब को भस्मकर मैं वैरागी बना हूँ। ये सब उसके गुण हैं, जिसके पास हृदय हो। मैं तो ठहरा हृदय-विहीन व्यक्ति। मेरे हृदय के स्थान में मरघट बसा हुआ है, हृदय कहाँ है ?" उस जोगी ने एक लम्बी साँस भरकर, दिल दुखाने जैसी बात कही "एक दिन वह सब-कुछ था मेरे पास। पर आज कुछ नहीं है......ख़ैर...... चूल्हे में जाय। ये कहाँ की बातें छेड़ दीं तूने। पहले तू निश्चिन्त होकर सो जा। ज्वर की पीड़ा में ये दुखद बातें क्यो ?"

"जोगी ने महीनों के पर्यटन-काल में कभी इतनी बातें नहीं की थीं। अँधेरे में उसका चेहरा नहीं दीख रहा था। फिर भी उन बातों से उसके दिल की हालत साफ़ ज़ाहिर थी। उस समय वेंकटसुब्बय्या को विचार आया—'आज ये प्रसन्न हैं। इस सुअवसर को हाथ से

नहीं जाने देना चाहिए। क्या पता बाद में ये फिर पहले जैसे कठोर हो जायँ......?' इसके बाद उन्होंने जोगी से कहा—"आप वचन दें तो मैं सो जाऊँ।"

"वचन, किस बात का?"

"मुझे अपना शिष्य बनाने का।"

"मेरा शिष्य बनने के लिए इतना अधीर हो रहा है तू!"

"जी, मैं आप जैसा गुरु पाने के लिए तरस रहा था। उस दिन जब रात को आप दुर्ग में गा रहे थे, तभी मैं शुद्ध अंतःकरण से आप की शरण आया था। यद्यपि मुझमें आपका शिष्य बनने की योग्यता नहीं है। तथापि.......दया कीजिए।"

"मैं इस बन्धन में पड़ना नहीं चाहता था, पर जान पड़ता है कि मेरे छुटकारे का समय अभी नहीं आया है। अच्छा, ईश्वरेच्छा।" जोगी ने विधाता की मर्ज़ी के सामने हार मानते हुए कहा। उस समय ऐसा लग रहा था मानो उसके हृदय से ये शब्द बलात् निकल पड़े हों।

"तो फिर आज से मैं आपका शिष्य हुआ?"

"हाँ, यह तेरा दुर्भाग्य है।"

"नहीं-नहीं, यह मेरा परम सौभाग्य है।"

"वेंकटसुब्बय्या को ऐसा महसूस हुआ मानो उसकी थकावट दूर होकर कामना, आतुरता आदि सब उस एक ही क्षण में शांत हो गई हैं। वे निश्चिंत होकर सो गये। दूसरे दिन जोगी ने किसी बूटी का रस पिलाया। संध्या के समय ज्वर कम हो गया। दोनों वहाँ से चल पड़े। रात होते-होते पास के एक गाँव के मन्दिर में पहुँचे। उसी मंदिर में वेंकटसुब्बय्या की संगीत-शिक्षा आरंभ हुई। इस प्रकार

वेंकटसुब्बय्या ने गुरु प्राप्त कर लिया।" चिन्नप्पा जी ने बताया। तब तक शायद आधी रात बीत चुकी थी। बेचारे की आँखें लाल हो निद्रा की सूचना दे रही थीं।

"क्यों चिन्नप्पा जी, नींद आ रही है? देर भी तो काफ़ी हो गई है।" मैंने कहा।

"इस रामलीला के चक्कर में पड़कर मुझे जागरण करने की खूब आदत पड़ गई है। आप को ही नींद आ रही होगी। अब सो जाइये, बाक़ी कहानी कल सुनाऊँगा।"

"क्या कहानी अभी और बड़ी है?"

"कहने लगूँ तो अन्त ही न हो। आप सवेरे से भूखे-प्यासे और थके-माँदे हैं, सो जाइये।"

"मुझे भी जागने की आदत पड़ गई है चिन्नप्पा जी। अगर कहानी ज़्यादा लम्बी न हो और आपको कोई तकलीफ़ न हो तो पूरी ही कर डालिये। आगे की बात जानने के कौतूहल से मुझे नींद नहीं आयगी।"

"तब तो सुन ही लीजिए।" कहते हुए चिन्नप्पा जी ने उठ कर पानी पिया, बीड़ी जलाई और फिर कहानी शुरू कर दी—

"वेंकटसुब्बय्या के जोगी-गुरु का जीवन भी बड़ा ही विचित्र था। वे धारवाड़ की तरफ़ के थे। उनके असली गाँव का किसी को पता नहीं। उनका नाम सदानन्द बुवा था। कहते हैं कि वे उस प्रदेश के बहुत ही प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। जब किसी स्थान पर उनके संगीत का आयोजन होता तो आसपास के पचासों गाँव से लोग आ-आकर जमा हो जाते। एक बार गाने बैठ जाते तो उठने का नाम ही नहीं लेते। फिर भले

ही तीन दिन हो जाय या छः दिन । कभी-कभी घण्टों तक एक ही राग गाते रहते । जब इच्छा होती, तभी गाना शुरू कर देते । इच्छा नहीं होती तो महीनों तक नहीं गाते । ऐसे विचित्र व्यक्ति थे । सुना जाता है कि उनकी ख्याति से पेशवा तक प्रभावित थे । उन्हें अपने पास रखने के लिए पेशवाओं ने अनेक प्रयत्न किये । लेकिन सब व्यर्थ हुए । बुवा का एक ही उत्तर था— 'चहकती चिड़िया को महलों का पिंजड़ा क्यों ? उसके लिए वह जंगल ही अच्छा है, जहाँ न किसी राजा का डर और न भूतों का । हिमालय अच्छा लगने पर, क्या कोई व्यक्ति उसे अपने घर के पिछवाड़े रख सकता है ? उसे तो वहीं जाकर देखना चाहिए । अगर पेशवाओं को मेरा गाना सुनना है तो उन्हें चाहिए कि वे मेरे पास आ जाया करें । इस पर कुछ लोग बुवा को घमण्डी समझने लगे । पर असल में वे घमण्डी नहीं थे । उन्हें अगर कोई बच्चा भी गाने के लिए कहता तो वे गाना सुना देते । गाँव में किसी के घर अगर कोई बच्चा रोने लगता तो बुवा अपना काम छोड़कर उसे झूला झुलाते हुए गाने लग जाते । इसलिए लोगों ने उनका नाम ' लहरी बुवा ' रख दिया था ।

" सदानन्द बुवा जितना प्रेम संगीत के प्रति रखते थे, उतना ही अपनी पत्नी के प्रति भी । वह बड़ी रूपवती थी । पर उस बेचारी ने ऐसे मन-मौजी पति के कारण कभी सुख नहीं पाया । वह बड़ी दुखी रहती । बुवा ने अच्छा नाम कमाया था और वे अपनी पत्नी को भी बहुत चाहते थे । लेकिन इससे क्या होता ? न तो पेट ही भरता न तन ही ढँकता । एक दिन क्या हुआ कि न जाने क्यों वह उन्हें छोड़कर किसी के साथ भाग गई ।

"उसके चले जाने से बुवा पर वज्र-सा गिर पड़ा। तीन चार दिन तक बेहोश पड़े रहे। उसके बाद पागल की तरह बड़बड़ाते और अपनी पत्नी की याद में बिलखते रहते।

"उनकी इस दशा पर गाँववालों ने तरस खाकर उनकी सेवा सुश्रुषा की। तभी से बुवा घर-बार छोड़कर साधु बन गये और इधर-उधर भटकने लगे। उनके लिए यह दुनिया कुछ नहीं थी। ऐसे वे पहले से ही लहरी जीव थे। अब उनके लहरीपन का क्या कहना! पत्नी के विश्वासघात से उत्पन्न, अपना समूचा क्रोध लोगों पर उतारने लगे। उनकी यह धारणा बन गई थी कि सब धोखेबाज़ हैं। मुझे ठगना चहते हैं। ये संगीत सीखने-सुननेवाले भी उनकी पत्नी जैसे हि पहले दर्जे के धूर्त हैं। इसी लिए उन के मन में अकारण क्रोध और असूया की गाँठ पड़ गई थी। लहर में होते तो गाने लग जाते। लेकिन यह मालूम होने पर कि कोई उनका गाना सुन रहा है—फ़ौरन बन्द कर देते। उस पर गाना सुनने का इल्ज़ाम लगा कर बरस पड़ते। जिस व्यक्ती का गाना सुनना ही दुर्लभ हो, उससे संगीत सिखाने की क्या आशा?

"वेंकटसुब्बय्या संगीत सीखने के लिए ऐसे ही व्यक्ती के पीछे पड़े थे। शायद यह उनका पुण्य-फल ही था की जोगी-बाबा ने उनकी बात मान ली थी। पर वे माने थे खूब सताकर। हाँ, तो इस तरह उनका संगीताभ्यास, जो दो-एक बरस से बंद था, फिर शुरु हुआ।

"वह अभ्यास भी वेंकटसुब्बय्या के बिलकुल अनुरूप था— न कोई क्रम, न नियम। मन प्रसन्न रहा तो चौबीसों घण्टे अभ्यास कराते रहते; नहीं तो महीनों तक नाम नहीं लेते।

"भिक्षान्न से निर्वाह कर लेते और मन्दिर, सराय या किसी चबूतरे पर ठिकाना। वेंकटसुब्बय्या ने पहले तिरुमलय्या के पास जो संगीत सीखा था, यहाँ वह सहायक सिद्ध हुआ। अन्यथा उन्हें बुवा के तूफ़ानी क्रम में, पत्ते की तरह फँसकर हाथ मिलते ही रह जाना पड़ता। दिन हो या रात—जब कभी उन्हें सिखाने की इच्छा हो जाती, तभी वेंकट-सुब्बय्या को भूख-प्यास और सोने जागने का ध्यान छोड़कर सीखना पड़ता था। न ताल की कोई सहायता और न तानपूरा ही। एक बार वेंकटसुब्बय्या ने कह दिया कि तानपूरा होता तो स्वर मिलाने में अधिक सुविधा रहती। इस पर उन्होंने जवाब दिया था—'तानपूरा! उसकी ज़रूरत? बाहरी अवलम्बन की आवश्यकता उसी को रहती है, जो नाद स्वर ग्रहण नहीं कर सकता; जैसे अंधे को लाठी का सहारा। संगीत के नाद में खोकर तन को ही तानपूरा बनाना चाहिए। यदि ऐसी तन्मयता न हुई तो संगीत सीख चुके तुम! सुर का ज्ञान हो तो जब सप्त-स्वरों को बुलाएँ, तभी वे उपस्थित हो जायँ; जैसे बजाएँ वैसे बजने लगें। जब गाने लगें तो इस तरह गाएँ कि समूचा वातावरण ही तानपूरे की गूँज बन जाय।

"यह कैसे सम्भव है; गुरु जी?"

"सुनो! दूध में घुली मिश्री दीखती है क्या? फूल में सुगंध कहाँ छिपी है, बतला सकते हो! ये अनुभव गम्य हैं, दृष्टि गोचर नहीं। इसी तरह सप्त स्वर भी नाद-समुद्र में छिपे रहते हैं। जिस तरह हम किसी टीले के पत्थरों को गिनकर बता सकते हैं—एक, दो, तीन, यह, वह, आदि। क्या उसी तरह सप्त-स्वरों को भी गिनकर बता सकते हैं? राग की लड़ी को, सूत के धागों की तरह अलग-अलग

कर, क्या यह बता सकते हैं कि यह 'स' है, यह 'रि' है और यह 'ग' है? नाद कि अखंड धारा में किसी चढ़ाव को 'स' उतार को 'रि' और ठहराव को 'ग' के रूप में निर्देशित किया गया है; न कि बीच-बीच में बाँध बनाकर अलग-अलग नाम दिये गये हैं। यह कौनसा स्वर है—इसे केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है। और अनुभव इन्द्रिय-गोचर नहीं, बल्कि इन्द्रियातीत होता है। जैसे जल-धारा के उतार, चढ़ाव, समता, मोड़ आदि को जानने के लिए पानी में से गुज़रना ज़रूरी है, वैसे ही जब तेरी चेतना उस नाद-प्रवाह में उतरे तभी तू उन सत-स्वरों का मूल जान सकेगा। तुझे बाह्य ज्ञान को एक तरफ़ रखकर उस नाद-धारा में गोता लगाना पड़ेगा। अन्यथा सीखा हुआ स्वर-ज्ञान केवल पाथेय की भाँति तात्कालिक ही होगा। इसलिए पहले नाद-प्रवाह में लीन होने का अभ्यास कर।"

"इसका कौनसा मार्ग है?"

"द्वैत भावना का नाश और अद्वैत की सिद्धी।"

"यानी?"

"यानी, 'संगीत' और 'संगीतकार' को अलग-अलग समझने का भेद मिटा देना। दोनों को अखंड और अभिन्न बना देना। जीवन में 'मैं' और 'तू' के रहते हुए जिस तरह 'एको ऽ हम्' की भावना नहीं आ सकती, उसी तरह संगीत में भी मानना। जीवन में कुछ सीमा तक द्वैत के बने रहने पर भी काम चल सकता है, किन्तु संगीत में नहीं। समरसता या एकरूपता ही संगीत का दूसरा नाम है, तब उसमें द्वैत के लिए स्थान ही कहाँ! 'तन्मयता' संगीत-प्राप्ति की पहली सीढ़ी है। किसी गायक को, गाते समय यह ध्यान नहीं रहना चाहिए

कि वह गा रहा है।"

"इससे बाधा नहीं पहुँचेगी!"

"कैसी बाधा?"

"मान लीजिए कि हम एक राग समाप्त कर, दूसरा आरम्भ करना चाहते हैं। गाते समय ताल और लय-बद्ध होकर ही गाना चाहिए। लेकिन हमें अगर कोई ध्यान ही नहीं रहा तो क्या शास्त्र का नियम भंग नहीं होगा?"

"शास्त्र! कैसा शास्त्र, किसका शास्त्र और किस शास्त्र का नियम भंग होगा! बहते पानी का यह स्वाभाविक नियम होता है कि वह उतार में तेज़ी से और मैदानों में धीरे-धीरे बहे; तथा ऊँचाई आने पर वहीं रुक जाय और विशाल सागर बन जाय। संगीत का भी ऐसा ही नियम है। वह भावों के उतार-चढ़ाव और मंद गति पर निर्भर रहता है। इसी का नाम ताल या लय है। आख़िर राग क्या है? नाद से प्रकाशित भाव ही तो है न! लोग कहते हैं कि समयानुसार रागों को गाना चाहिए। कहते हैं न?"

"जी।"

"ऐसा किसलिए, जानता है?"

"इसलिए कि ऐसा न करना श्रेयस्कर नहीं होगा।"

"यह केवल विश्वास है। प्रथा है। मैं कारण जानना चाहता हूँ

"कारण तो मुझे मालूम नहीं।"

"तो सुन। मनुष्य में तीन प्रकार के गुण पाये जाते हैं। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण। दिन में भी तीन काल होते हैं। प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल। मनुष्य के गुण तथा कालों में परस्पर

सम्बन्ध होता है। एक-एक काल के प्रभावानुसार मनुष्य में एक-एक प्रकार का गुण प्रकट होता है; एक-एक प्रकार की बुद्धि की प्रधानता होती है। अब तू समझ सकता है कि अँधेरे में हमारी आँखें साफ़-साफ़ नहीं देख सकतीं। उस समय दूसरी इन्द्रियाँ अधिक सक्रिय होती हैं। है न? मैं पहले ही बता चुका हूँ कि 'राग' नाद से प्रकाशित भाव है। अतः 'भाव' और 'गुण'—दोनों एक ही हुए। इसका क्या अर्थ हुआ? मनुष्य में एक-एक काल में एक-एक प्रकार का भाव जाग्रत होता है। इसलिए समयानुसार उस भाव के अनुरूप—रंजक, प्रचोदक और पोषक राग को गाना चाहिए। ऐसा करने से ही राग खिलता है। जैसे रातके बदले दिन में दीपक जलाएँ तो क्या वह शोभा देगा? शोक के समय हँसना सुहाता है? नहीं। अगर ऐसा करेंगे तो वह स्वाभाविक न होकर अस्वाभाविक होगा; विकृत होगा। संगीत में हृदय परिष्कार करने का गुण होता है। उसमें ऐसा विकार लाना, यानी उल्टी गंगा बहाना ठीक नहीं। अन्यथा वह शादी में श्राद्ध-मंत्र पढ़ने के समान हो जायगा। यह इसी लिए अनुचित है। हर एक गायक को इन बातों का ज्ञान होना चाहिए। यही भावना हमारी उस प्रथा का मूल है। विचारकों ने इस सत्य को परिपाटी के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। बस, और कुछ नहीं। हाँ, परिपाटी भले ही सत्य न हो, लेकिन सत्य उसका जन्मदाता है। हमारे रागों का विभाजन भी उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर ही हुआ है।"

"कहते हैं कि अमुक राग का स्वर-संचालन अमुक प्रकार से होना चाहिए। लेकिन तन्मयता से गाते समय स्वर-भंग होजाय तो?"

" अमुक राग का स्वर-संचार अमुक है—ऐसा कहना एक दुसरी प्रथा है। यह स्थूल विषय है। भाव जब नाद-रूप में प्रवाहित होता रहता है, तब उसकी धारा गंभीरता और सरसता के अनुसार, कभी तीव्र होती है और कभी मंद। सब तरह की परिस्थितियों में यही होता है। स्वर का अर्थ नाद का उतार-चढ़ाव है न? इसलिए जब अमुक भाव को नाद-रूप मिलता है तो वह अमुक स्वरों में संचारित होता है; ऐसा मनन कर, वे इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि अमुक भाव को जगाने के लिए अमुक-अमुक स्वर लगाना चाहिए। काव्य में जो स्थान पिंगल का होता है, वही स्थान संगीत में स्वर और ताल का होता है। जैसे यदि कोई वैयाकरण, गुरु, लघु, मात्रा और गण के अनुसार अक्षर जोड़ दे तो उसका नाम कविता नहीं हो सकता। उसी तरह स्वर-ताल-बद्ध गा लेने भर से वह संगीत नहीं कहला सकता। क्या कवि और क्या गायक, असल में उनमें प्रतिभा होनी चाहिए—भावों को आत्मसातकर, व्यक्त करने की प्रतिभा।"

" तो क्या शास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं?"

" मैंने ऐसा थोड़े ही कहा। कहने का मतलब यह है कि प्रतिभा के साथ यदि शास्त्र-ज्ञान भी हो तो सोने में सुगंध जैसा है। अगर कोई प्रतिभा-हीन शास्त्रज्ञ गाने लगे, तो वह किसी सींकिया पहलवान के व्यायाम-प्रदर्शन की तरह ही हास्यास्पद होगा।"

" अच्छा, तो क्या प्रतिभावान व्यक्ति भी शास्त्र-विरुद्ध होकर गा सकता है?"

" क्यों नहीं? क्या सोना ही चमकता है, वज्र नहीं चमकता! फिर भी शास्त्रों का तिरस्कार करना उचित नहीं है। जिस व्यक्ति को

थोड़ा भी शास्त्रीय ज्ञान है किन्तु उसमें प्रतिभा का अभाव है, उस हालत में भी उसके संगीत में शास्त्रीय सम्पुट अवश्य रहेगा। प्रतिभा सब में नहीं होती। लेकिन ऐसा व्यक्ति विरला ही होगा जिसे गाने की रंच मात्र भी अभिलाषा न हो। शास्त्र, बच्चे को हाथ पकड़कर चलाने वाली माँ के समान है। आगे चलकर जैसे बच्चा अपने बल पर चलता है, उसी तरह प्रतिभा के बल पर विद्या भी बढ़ती है। यह प्रतिभा ईश्वर-दत्त होती है। इसमें निरन्तर वृद्धि करते रहना हमारा कर्त्तव्य है।"

"प्रतिभा को बढ़ाने का क्या मतलब है, गुरु जी? क्या ईश्वर-दत्त प्रतिभा भी घटती-बढ़ती है?"

"हाँ, अनुभव से बढ़ती है। लता, सींचने पर जिस प्रकार ज्यादा फूल देती है और तराशने पर हीरे की दमक बढ़ जाती है, उसी प्रकार अनुभव से प्रतिभा की भी वृद्धि होती है। वह दिनों-दिन प्रखर और उज्वल बनती जाती है। पर यह तभी सम्भव है, जब इसका ढंग मालूम हो।"

"इसका क्या मतलब हुआ?"

"वर्षा से भूमि आर्द्र बनती है और उससे वनस्पति उत्पन्न होती है; है न!"

"जी हाँ।"

"उसी तरह पृथ्वी की आर्द्रता सूख भी जाती है।"

"बिलकुल ठीक"

"अनुभव भी बरसात के पानी जैसा ही है। हमें जब कभी नया अनुभव प्राप्त होता है तब मन पर उसका कुछ प्रभाव पड़ता है;

और थोड़ी देर बाद हम उसे भूल जाते हैं। वह उतना परिणामकारी नहीं होता। उसका असर तात्कालिक होता है। यदि उसे अपनी प्रतिभा के लिए स्थायी रूप से पोषक बनाना हो तो उसका संचय करना चाहिए। जिस तरह वर्षा का जल, कुएँ, तलाब आदि में संचित कर, आवश्यकतानुसार उसका उपयोग किया जाता है, उसी तरह अनुभव का भी संचय कर, समय पर उससे लाभ उठाया जाता है। तभी वह प्रतिभा का पोषक बनता है। उस दिन मैं तुझे रुग्णावस्था में ही छोड़कर चला गया था। उससे तेरे मन को दुःख हुआ, असीम वेदना हुई। तब उस निस्सहाय और अनाथावस्था में पड़कर तू गाने लगा। तेरे अंतःकरण से संगीत का एक दिव्य झरना बह निकाला। वह ऐसा ही था, मानो लता में फूल खिल उठे हों। वह एक अनुभव है। अब मान ले कि तुझे आगे फिर कभी वही राग गाना पड़े तो तू अतीत के उस अनुभव का सहारा ले सकता है। कल्पना कर कि आज भी तू उसी हलत में है। उस अनुभव के आते ही तेरी प्रतिभा, तराशे हुए हीरे की तरह चमक उठेगी। केवल उस एक अनुभव की ही बात नहीं है। जीवन के समस्त अनुभवों का उसी तरह संचय करना चाहिए। अपने अनुभवों के साथ–साथ दूसरों के अनुभवों को भी अपनाना चाहिए।"

"यह कैसे, गुरु जी?"

"मानले कि कोई स्त्री अपने पति से वंचित हो जाने के कारण रो रही है, तड़प रही है। अब अगर तू स्वयं को उसके स्थान पर रख कर देखेगा तो तुझे अनुभव हो जायगा कि उसे कितनी और कैसी पीड़ा हो रही है! उस स्थिति में उसका अनुभव भी तेरा अपना

ही, अनुभव हो जायगा।"

"यह कैसे सम्भव है गुरु जी? जो अनुभव हमारा अपना नहीं हो, उसे कैसे अपना बना सकते हैं?"

"एक बंद कमरे में जहाँ हवा का प्रवेश न हो, एक ही सुर के दो तानपूरे रख दें और फिर एक को छेड़ें, तो क्या दूसरा तानपूरा अपने आप झंकृत नहीं हो उठेगा! तुझे भी ऐसा ही बनना होगा। संसार के सुख-दुःखादि भावों के अनुरूप स्पंदित और झंकृत होने के लिए अपना हृदय श्रुति-बद्ध करना होगा।"

"यह किस प्रकार हो सकता है?"

"सहानुभूति से—दूसरों में अपने को देखने से।"

"यानी........।"

"मैं पहले ही बता चुका हूँ कि द्वैत की भावना छोड़कर अद्वैत की भावना अपनानी चाहिए। मैं ही सब में हूँ, सबके सुख-दुःख, मेरे अपने ही सुख-दुःख हैं—ऐसी भावना रखनी होगी। इस भावना के परिपक्व हो जाने पर ही 'अहं ब्रह्मास्मि' की स्थिति प्राप्त की जा सकती है।"

"गुरु जी की बातें सुनकर वेंकटसुब्बय्या को बड़ा आश्चर्य हुआ। संगीत, वेदान्त की ओर बढ़ रहा था। उन्होंने साश्चर्य पूछा—'गुरुजी, यह तो आप वेदान्त की बातें बता रहे हैं!"

"हाँ, वेदान्त और नाद-तत्व एक ही है। ज्ञान मार्ग पर चलने से यह वेदान्त कहलाता है और संगीत मार्ग पर चलने से नाद-तत्व। पर ध्येय एक ही है—ब्रह्म का साक्षात्कार। ब्रह्म और नाद-ब्रह्म अलग-अलग नहीं हैं; ये एक ही तत्व के दो नाम हैं। हाँ,

पद्धति भिन्न-भिन्न है; किन्तु साध्य एक ही। उपासना के अनुरूप ही तत्व के दर्शन होते हैं।"

"वेंकटसुब्बय्या वेदान्त के ज्ञान से परिचित नहीं थे। इसलिए गुरु जी के मुँह से ये बातें सुनकर स्तम्भित रह गये। मानो, अँधेरे में कोई वस्तु खोजी जा रही हो। उन्होंने अपने अज्ञान को प्रश्न का रूप देकर पूछा—'गुरु जी, इसका क्या मतलब है कि तत्व की प्राप्ति उपासना-रूप के अनुसार होती है।"

"तू मानता है न कि भगवान एक है? लेकिन वही भगवान अपने भक्तों को उपासना-रूप के अनुसार अलग-अलग रूप में दर्शन देते हैं—कभी शिव, कभी विष्णु और कभी देवी के रूप में। इन अलग-अलग रूपों का कारण, उपासकों की अलग-अलग इच्छाएँ हैं। भक्त की कामना के अनुसार ही भगवान दर्शन देते हैं। तू अपनी शक्ति के अनुसार किसी रूप की उपासना कर सकता है, चाहे वह ब्रह्म-रूप हो या नाद-रूप। वैसे उपासना मार्ग भी बहुत से हैं फिर भी उनमें लक्ष्य एक ही है।"

"यानी वेद-ब्रह्म और नाद-ब्रह्म दोनों एक ही हैं!"

"हाँ, भगवान को प्रणवरूप कहा जाता है। ओम्कार प्रणव-रूप है और 'अ' 'उ' 'म्'—इन तीनों का योग ही ओम्कार है। उसी तरह 'स' 'प' 'स' का योग भी ओम्कार है। अक्षरों में 'अ' 'उ' 'म्', से और नाद में 'स' 'प' 'स' से ओम्कार बनता है। ख़ैर, छोड़ो इसे। हमारी बातें कहाँ से कहाँ भटक गई हैं। ये बातें तुझे खुद ही आगे चलकर मालूम हो जायँगी। अभी तो तुझे मन लगाकर अभ्यास करने की ज़रूरत है, बस।"

" बुवा की बातें वेंकटसुब्बय्या की समझ में पूरी तरह नहीं आ पाईं। लेकिन उनके मन में कोई प्रखर ज्योति बिजली की तरह चमककर अदृश्य हो गई।

" सदानन्द बुवा प्रायः कम ही बोलते थे। पर जब कभी बोलते तब ऐसी ही अनोखी बातें सुनाते। कभी-कभी उनके मुँह से तलवार की धार से भी तेज़ और कठोर बातें निकल पड़तीं—मतलब यह कि वे कब क्या कह बैठेंगे, यह समझना वेंकटसुब्बय्या के लिए मुश्किल था।

" एक दिन की बात है—दोनों किसी गाँव के बाहर एक मन्दिर में ठहरे थे। सवेरे का समय था। वेंकटसुब्बय्या एक कुएँ पर पानी भरने गये। कुआँ मन्दिर के सामने ही था। गाँव की बहुत सी स्त्रियाँ भी पानी भरने आई थीं। वेंकटसुब्बय्या को उन औरतों के पानी भर लेने तक ठहरना पड़ा। वे कुछ दूर खड़े रहकर पनहारिनों को निहारने लगे।

" उनमें एक किसान की लड़की भी थी—उमड़ती जवानी की। श्याम वर्ण, परिश्रम से पुष्ट और सुडौल शरीर। उसका आकर्षण हर किसी राहगीर को क्षण भर देखने के लिए बरबस रोक लेता। वह तरुणी जिस घड़े से पानी खींच रही थी, वह बड़ा बोझिल था। उसने एक पैर थल्ले पर और दूसरा कुएँ की मुँडेर पर रखकर खींच लिया। फिर साड़ी के एक पल्लू की गेंडुरी बना एक घड़ा सिर पर और एक कमर पर ले, संतुलन साधे चल पड़ी। उस समय उसकी लास्यमय गति और शारीरिक कांति देखते ही बनती थी; और लावण्य तरह-तरह के रंग उद्भासित करता हुआ हीरे की तरह चमक रहा था।

" यह दृश्य देखकर वेंकटसुब्बय्या की आँखें उस रूप-लास्य में

गड़ गई। वह युवती उन्हें किसी स्वर, ताल और लययुक्त रागिनी जैसी लगी। वे एक टक देखते हुए ठगे से रह गये। उस युवती ने उस परदेसी को एक बार आँख उठाकर देखा। वेंकटसुब्बय्या की नज़रें उसी पर जमी हुई थीं। वह तनिक मुसकरा उठी। उसकी मुसकराहट स्वर्ण-झाँझर की झनकार जैसी थी। फिर वह अपने रास्ते चली गई। थोड़ी दूर जाने के बाद रास्ते के एक मोड में आँखों से ओझल हो गई। वेंकटसुब्बय्या वहीं खड़े रहे। पर उनकी निगाहें उस युवती के पीछे-पीछे बहुत दूर निकल गई थीं।

"वेंकटसुब्बय्या का अबोध-यौवन, रूप-माधुर्य के उस नये राग को सुनकर मुग्ध हो उठा।

"उन्हें इतना भी होश नहीं रहा कि पनघट पर आने-जाने वाली पनहारिनें क्या सोचेंगीं। वे अपनी कल्पना में उसी लड़की का रंगीन चित्र बनाते हुए, काठ की तरह खड़े रहे। इस पर एक स्त्री ने उन्हें टोक ही दिया। वे शर्मिन्दा हो गये। उनका चेहरा फीका पड़ गया—जैसा चोरी करते, रँगे हाथों पकड़े जाने पर हो जाता है।

"एक और लड़की भी बोल उठी—'यह पानी भरने नहीं, पानी भरनेवाली औरतों को देखने आया है। ऐसा लगता है कि इसने कभी औरतें ही नहीं देखी हैं।"

"उस लड़की की बातें सुनकर दूसरी स्त्रियाँ भी खिलखिलाकर हँस पड़ीं।

"उनके व्यंग्य और हँसी से वेंकटसुब्बय्या तिलमिला उठे, शर्म से गड़ गये। सिर नीचे झुकाए चुपचाप कुएँ के पास गये और पानी भरकर उसी तरह मन्दिर लौट गये।

"बुवा स्नान करने के लिए प्रतीक्षा कर रहे थे। उनको देखते ही आँखें तरेरते हुए गरज पड़े—'देख चुका उस लड़की को? मन भरा कि नहीं? धत्........कुत्ता कहीं का!"

"उनकी बात तीर-सी चुभ गई। उन्होंने पहले कभी ऐसी कड़ुवी बात नहीं सुनाई थी। बुवा की लाल-लाल आँखों से बरसते अंगारे, सावन के घने मेघ-सी कठोर मुखाकृति और गाज-सी कठोर ध्वनि—यह हाल देखकर वेंकटसुब्बय्या पानी-पानी हो गये।

"भू........भू........भूल हो गई।" उन्होंने हकलाते हुए माफ़ी माँगी।

"भूल होगई—यह कहते तुझे शर्म नहीं आती! 'औरत' मर्द के जीवन की सबसे बड़ी कमज़ोरी है। आज देखने की लालसा है तो कल मिलने की भी। तू भी स्त्री-राक्षसी का शिकार हो गया! नालायक़... पाजी......! अब जब तक तू औरत को न भूल जाय, तब तक मेरे सामने संगीत का नाम न लेना।"

"बुवा ने कड़ी शर्त लगा दी।

"उस दिन से तीन दिन तक संगीत का अभ्यास नहीं हुआ बुवा जब देखो तब औरत का नाम ले, कोसते रहते; अंगार उगलते रहते। उनकी बातें सुनकर वेंकटसुब्बय्या काँप उठते। लेकिन पनघट की मधुर स्मृति आते ही उनकी आँखों की अभिलाषा ताण्डव नृत्य कर उठती और बुवा की बातों का ख्याल तक न रहता।

"एक ओर चाह और दूसरी ओर डर—उनके लिए यह निर्णय करना कठिन हो गया कि इन दोनों में क्या ठीक है और क्या नहीं! इधर बुवा का आदेश था कि 'चाह' छोड़ दो; उसे मिटा दो।

उधर उस नव-यौवना का आकर्षण कहता कि बुवा का आदेश मत मानो, उनसे मत डरो।"

"वेंकटसुब्बय्या के मन में भयंकर द्वन्द्व छिड़ गया। उन्हें लगा, जैसे संगीत-विद्या ही उनसे छूटी जा रही है।

"शायद बुवा को उनके अन्तर्द्वन्द्व का आभास हो गया था। वे दो दिन तक तो चुप्पी साधे रहे पर तीसरे दिन फिर संगीत सिखाने बैठ गये। अभ्यास क्या था—बस तूफ़ान ही समझ लें। उन्होंने खाने-पीने और सोने-बैठने जैसे दैनिक कार्यों के लिए भी अवकाश नहीं दिया। चौबीस घण्टे अभ्यास ही अभ्यास। वेंकटसुब्बय्या का रोम-रोम संगीत में प्लावित हो गया, जैसे बरसाती नदी की बाढ़ किनारे तोड़कर सब कुछ निगल जाती है। कुछ इस प्रकार का भाव दर्शाते हुए कि दुनिया में संगीत से बढ़कर सुन्दर और मधुर दूसरी कोई वस्तु नहीं है, बुवा ने कहा—'यही चाहिए न तुझे? तो ले, पर यह समझ ले कि जब तक तेरा रोम-रोम नाद-मय बनकर सरस्वती का क्रीड़ांगण न बन जाय, तब तक तुझे यह भव्य संगीत नहीं मिल सकता।........और इस सिद्धि के मार्ग में 'स्त्री' एक भयंकर रोड़ा है।"

"बुवा ने इस विषय को वहीं नहीं छोड़ दिया। वे जब-तब मौक़ा पाकर उन्हें स्त्री के विषय में सावधान करते—'जहाँ तक हो सके स्त्री से दूर रहने की भरपूर कोशिश करनी चाहिए। वह पिशाचिनी है, साधकों के सिद्धि-मार्ग में एक ज़बरदस्त रोड़ा है। उसे बस में रखना उतना ही कठिन है जितना नागिन को। वह तभी तक आकर्षक लगती है, जब तक बीन की धुन पर फन नचाती रहे। बीन रुकी नहीं

कि वही नाचता हुआ फन मौत की गाज बनकर पड़ा नहीं।' और कभी यह समझाते—'अहंभाव स्त्री से भी अधिक भयंकर है। साधक को उससे हमेशा बचना चाहिए।"

"वेंकटसुब्बय्या कभी-कभी उनकी बातों से ऊबकर सोचने लगते—'कहाँ संगीत और कहाँ स्त्री-द्वेष—इन दोनों का क्या सम्बन्ध!' जब उस लड़की की याद आ जाती तब भी सोचने बैठ जाते—'तो क्या वह सुन्दरता की खान साँप की बाँबी है?' इस तरह उनके मन में सन्देह होने लगता। लेकिन अब चौकन्ने हो गये थे। बुवा की इच्छा के विरुद्ध न तो कोई काम ही करते न कोई बात ही। वे जो कुछ कहते चुपचाप सुन लेते और उपयोगी बात गाँठ में बाँध लेते। अब वे पूरी तरह संगीत सीखने में जुट गये थे। अपने मामा की बातें भी उनके कानों में गूँजा करतीं—'अपनी समस्त आकांक्षाओं को संगीत-साधना की आकांक्षा में मिला दो। इन्हें इस तरह मिलाओ कि सब मिलकर एकाकार हो जाँय। यही सिद्धि प्राप्त करने का मार्ग है। उन्होंने इसी सीख के अनुसार अपनी समस्त आकांक्षाएँ संगीत पर न्यौछावर कर दीं।

"वेंकटसुब्बय्या पर बुवा की बातों का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे स्त्री के नाम से ही घबराने लगे। अब तक अपनी माँ के सिवाय उन्हें और किसी स्त्री का ज्ञान भी न था। उस मधुर स्मृति को भी उन्होंने भुला दिया जो अवकाश के समय कभी-कभी उनके मन पर छा जाया करती थी; और वे यह समझने लग गये थे कि मैंने स्त्री की माया को जीत लिया है। इससे बुवा को भी प्रसन्नता हुई। अब वे पहले की अपेक्षा और अधिक उत्साह से संगीत सिखाने लगे।

" बुवा उन्हें कभी–कभी किसी राग का लक्षण और गाने का तरीक़ा बताकर उन्हीं से गवाते । आप चुपचाप बैठकर उनकी त्रुटियाँ सुधारते । कभी दोनों एक साथ ही गाते । संगीत सीखते–सिखाते और भिक्षा से गुज़ारा करते हुए दोनों गुरु–शिष्य का परिवार गाँव–गाँव घूमने लगा । एक बार की बात है, किसी गाँव के लोगों ने बुवा के संगीत का आयोजन किया । कार्यक्रम की समाप्ति पर उन्होंने बुवा को कुछ भेंट देना चाहा । पर बुवा ने कोई भेंट स्वीकार नहीं की; हाँ उनका आग्रह देखकर इतना ज़रूर स्वीकार कर लिया कि अगर आप कुछ देना ही चाहें तो मेरे शिष्य को एक तानपूरा दे दीजिए; उसके अभाव में वह कठिनाई अनुभव कर रहा है ।"

" बड़ा अच्छा ज़माना था वह । किसी कलाकार के कुछ कहते ही उसकी इच्छा पूरी कर दी जाती थी । उन संगीत–प्रेमियों ने तुरन्त ही एक बढ़िया तानपूरा बुवा को भेंट कर दिया । तानपूरा पाकर तो वेंकटसुब्बय्या की साधना में पंख आ गये ।"

" इसी प्रकार साधना करते–करते चार–पाँच वर्ष और व्यतीत हो गये । वेंकटसुब्बय्या की संगीत–कला तपाए हुए सोने की तरह निखर उठी । उनका कंठ इतना मधुर था, मानो वह संगीत के लिए ही विशेष रूप से बना हो । जब वे तानपूरे के साथ सुर मिलाकर गाते, तब उनके कंठ से बड़ी ही सुरीली आवाज़ निकलती । उस समय तानपूरे की आवाज़ और उनके गले की आवाज़ में भेद करना मुश्किल हो जाता । उसी के अनुरूप उनका मनोधर्म भी रहता । कोई राग, कितने ही व्यक्तियों द्वारा क्यों न गाया गया हो, वे अपनी कल्पना द्वारा नवीनता ला देते । शैली अत्यन्त हृदयाकर्षक और स्वर–ज्ञान

ऐसा कि चाहे 'द्रुत' हो या 'विलंबित लय' क्या मजाल कि स्वर में कहीं भी शिथिलता आ जाय! साधना के साथ-साथ ये विशेषताएँ भी बढ़ने लगीं। संगीत-कला पर उनका अधिकार जमता गया। अपने शिष्य का संगीत सुनकर बुवा इतने प्रभावित होते कि उन्हें सिखलाना भूलकर गले लगा आशीर्वाद देने लग जाते। उनकी आँखों से आनन्दाश्रु छलक पड़ते। कभी-कभी दोनों एकसाथ गाना शुरू करते, लेकिन बुवा बीच में ही रुककर 'वाह-वाह' 'बहुत-खूब' कहते हुए घंटों उसी को गाने देते और आप मस्त होकर झूमने लग जाते। उनकी दाद पाकर वेंकटसुब्बय्या में नया उत्साह भर जाता और वे अधिक जोश के साथ गाने लगते। कभी-कभी गुरु और शिष्य दोनों ही, इस क़दर संगीत में खो जाते कि भोजन और विश्राम करना तो दूर, उन्हें यह भी भान नहीं रहता कि अभी दिन है या रात!

"आख़िर एक दिन जब सदानन्द बुवा को यह विश्वास हो गया कि अब वेंकटसुब्बय्या गाने में निष्णात हो चले हैं तब उन्होंने कहा—'वेंकटसुब्बय्या, अब तू प्रायः प्रत्येक राग को काफ़ी अधिकार के साथ गा लेता है। इसलिए किसी एक राग को विशेष रूप से सिद्ध कर ले।'

"किस राग को सिद्ध कर लूँ गुरु जी?"-वेंकटसुब्बय्या ने पूछा।

"मैं यह कैसे बतला सकता कि अमुक राग चुन ले। गाते-गाते जो राग चित्त पर चढ़ जाय, उसी की साधना शुरू कर दे। राग भी एक देवता है। सभी राग सब पर प्रसन्न नहीं होते।" बुवा ने जवाब दिया।

"उसी दिन से वेंकटसुब्बय्या पर कोई विशेष राग सिद्ध कर लेने की धुन सवार हो गई। वे नित्य ही अभ्यास करते समय जिस राग को गाने बैठते, उसी के बारे में सोचने लग जाते—'बस, यही राग ठीक है।' पर जब बाद में गाते तो एक राग दूसरे राग से अधिक अच्छा लगता। आज यह राग भा जाता तो कल दूसरा। किसी की कोमलता मन पर छा जाती तो किसी की गंभीरता। कोई राग रोम-रोम में दर्द जगा देता तो कोई प्रशांत चाँदनी जैसा आल्हाद भर देता। किसी राग को चुनने के उद्देश्य से जब वे गाने लगते तो उसमें ऐसे सौन्दर्य के दर्शन होते, जिसकी पहले कभी कल्पना तक नहीं हो सकती थी। इस तरह, इस गुत्थी को सुलझाने में असफल हो जाते और अपनी असफलता पर क्षुब्ध भी। यह देखकर बुवा हँसते हुए कहते—'क्यों, कोई राग नहीं चुना जा सका? तेरी हालत उस युवक की-सी हो गई है, जिसके सामने अपनी जीवन-संगिनी चुनने के लिए सौ लड़कियाँ खड़ी कर दी गई हों, पर वह किसी को भी न चुन सके। किसी के होंठ रसीले हैं, तो किसी के कपोल गुलाबी हैं; किसी की चिबुक गुलाब की कली जैसी है, तो किसी की नाक चम्पक-पुष्पी है; इसकी आँखों में सितारों जैसी चमक है, तो उसकी आँखें हरिणी की आँखों जैसी हैं—इनमें से वह किसे अपनाए और किसे छोड़े? ऐसी ही दुविधा तेरे सामने भी है न? पहले तुझे सभी राग समान रूप से प्रिय थे। पर अब, जब कोई एक राग चुनने का प्रश्न उठा तो यह मुसीबत आ गई।"

"हाँ, गुरुजी, आप का कहना बिलकुल सही है।" वेंकट-सुब्बय्या स्विकार करता।

"चलो यह एक तरह से अच्छा ही है। आख़िर आज नहीं तो कल, तुझे किसी कन्या का चुनाव भी करना ही पड़ेगा। उस समय यह अनुभव काम आयगा। यों, तू किसी को चुने या न चुने पर जो मिलना है वह अवश्य ही मिलेगा।"

"तब तो यह व्यर्थ की झंझट है गुरु जी।"

"छिः कैसी बात करता है? यह ठीक है कि पुरुष होने के नाते कोई न कोई तेरे गले बँध ही जायगी। किन्तु अपनी पसन्दगी का विचार तो करना ही चाहिए न? हम अपने प्रयत्न क्यों छोड़ दें इसके बाद जैसी मिले वैसी ही सही। जिस प्रकार दस लड़कियाँ परखने का अनुभव आँखों को हो, उसी प्रकार कंठ को भी तो दस राग गाने का अनुभव होना चाहिए न?" बुवा चिलम से गाँजे का धुआँ उड़ाते हुए धीरे-धीरे कहते।

"वेंकटसुब्बय्या हँस देते। लेकिन उनकी बातों की सचाई वे ज़रूर समझते थे।

"यद्यपि सदानन्द बुवा अपने शिष्य पर बहुत प्रसन्न थे। पर वेंकटसुब्बय्या के लिए उनकी शागिर्दगी कण्टक-शय्या से कम नहीं थी कब उनके मुँह से फूल झड़ने लगेंगे और कब अंगारे—इसका अनुमान लगाना सरल नहीं था। इसलिए हर बात में उनका रुख़ देखकर चलना पड़ता। बुवा हँसते तो वेंकटसुब्बय्या भी हँसते, बुवा गाते तो वे भी गाते और अगर वे मौन रहते, तो वे भी अपना मुँह सी लेते। बुवा जो भी काम बताते उसे तुरन्त कर डालते, फिर भले ही वह अच्छा हो या बुरा। क्योंकि किसी काम के न करने पर उन्हें हमेशा यह आशंका बनी रहती कि बुवा कहीं उन्हें छोड़कर न

चल दें। छः साल इसी तरह तलवार की धार पर चलते हुए गुज़रे।

"वेंकटसुब्बय्या के मन में ऐसी कोई इच्छा नहीं थी कि जनता उनके संगीत की प्रशंसा करे या उनकी प्रसिद्धि हो। यदि परिस्थिति नहीं बदलती तो संभव था कि कुछ वर्षों तक और भी उन्हें जनता नहीं जान पाती। लेकिन विधाता को कुछ और ही मंजूर था। एक दिन बुवा ठंडे पानी से नहाकर आए और जो खाँसते हुए सोये तो फिर बिस्तर से नहीं उठे। खाँसी ने ऐसा ज़ोर पकड़ा कि आठ-दस दिन में ही बेचारे घुल गये। उस समय अपने शिष्य को रोते हुए देखकर बोले—वेंकटसुब्बू, मेरे जीवन में संगीत अधूरा ही रह गया। किसी विषाद ने मुझे आगे नहीं बढ़ने दिया। पर मैं चाहता हूँ कि तेरा जीवन संगीत में पूर्ण हो। भगवान ने तुझे प्रतिभा दी है। तू इसकी रक्षा करना। मैंने तुझे बहुत सताया है। जी जलानेवाली बातें भी कही हैं। तू उन्हें भुला देना। हाँ, मैं जो कुछ सिखा पाया हूँ उसे न भुलाना। अपनी विद्या बराबर बढ़ाते रहना। यह ऐसी अपार है कि जीवन भर सीखने पर भी इसका कभी छोर नहीं आता। अपने पथ पर अटल रहना। तुझे पथभ्रष्ट करने के लिए सैकड़ों बाधाएँ आ सकती हैं। लेकिन किसी लालच में पड़कर संगीत के साथ विश्वासघात न करना।' यह कहते हुए उन्होंने आख़िरी साँस ली। वे हमेशा के लिए छोड़ चले।"

"वेंकटसुब्बय्या यों दहाड़ मारकर रोने और धरती पर लोटने लगे जैसे उन के पिता की मृत्यु हो गई हो। पर मौत के सामने किसका बस चला है? अन्त में गाँववालों की सहायता से अपने गुरु की अन्त्येष्टि-क्रिया की और शोक-ग्रस्त होकर बैठ गये।

" उस दिन उन्हें अपने माता-पिता की याद भी आ गई। इसका यह मतलब नहीं कि अब तक वे अपने घरवालों को बिलकुल ही भूल गये थे। बल्कि वह याद पुराने दर्द की तरह कभी-कभी तीव्र हो उठती थी और वे मन ही मन पछताने लगते —'मैं उन्हें बिना कुछ बताए ही चला आया। वे न जाने कहाँ-कहाँ ढूँढते-फिरते होंगे; उनका मन कितना दुःखी हुआ होगा!' लेकिन दूसरे ही क्षण संगीता-भ्यास का उत्साह उस घाव को फिर भर देता और वे उस में डूब जाते। फिर कभी इसी तरह याद आ जाती और फिर संगीत में रम जाते। इसी स्मृति और विस्मृति के भूलभूलैये में छः साल बीत गये थे। पर अब बुवा के चल बसने पर घर की याद फिर तीव्र हो उठी।

" फिर उस गाँव में रहकर भी क्या होगा? संगीताभ्यास कहीं भी हो सकता है। तब क्यों न अपने माता-पिता के सामने रहकर, उनकी सेवा करते हुए ही संगीत की साधना भी की जाय—यह विचार आते ही अपनी एकमात्र संपत्ति 'तानपूरा' लेकर दुर्ग की ओर चल पड़े।

" वे लगभग बीस दिन की पैदल-यात्रा के बाद जब दुर्ग पहुँचे तो देखा कि वहाँ एक दूसरा आघात उनकी प्रतीक्षा कर रहा था।

" जब वेंकटसुब्बय्या चुपचाप घर से निकल गये थे, तब उनके माता-पिता ने उनकी खोज में गाँव-गाँव छान मारा था। उन्होंने अगणित कष्ट उठाए। अकेले जोशी जी ही नहीं, बल्कि उनके सभी सगे-सम्बन्धी और मित्र-जन जहाँ कहीं भी जाते, उनका पता लगाने की कोशिश करते। परन्तु वेंकटसुब्बय्या बुवा के साथ ऐसे अनजान कोने में पहुँच गये थे कि वहाँ तक न तो किसी की नज़र

ही गई और न कभी किसी के कानों में उनके रहने की भनक ही पड़ी। दिन पर दिन, हफ्ते पर हफ्ते और महीने पर महीने बीत गये; यहाँ तक कि अनेक वर्ष हो गये। बेटा अगर पल भर के लिए भी आँखों से दूर हो जाता, तो माँ-बाप का दिल धड़क उठता। ऐसी स्थिति में बरसों तक ख़बर न मिलने पर उनकी क्या दशा हुई होगी? उन्हें कितनी व्यथा हुई होगी? वेंकटसुब्बय्या की माता उनकी याद में घुल-घुल कर अस्थि-पंजर रह गई थी।

"जोशी जी की हालत और भी ख़राब थी। न तो वे अपने मन की व्यथा ही किसी को कह सकते थे और न जी हलका करने के लिए आँसू ही बहा सकते थे। आख़िर पुरुष जो थे। एक ओर पुत्र से बिछुड़ जाने का दुःख, दूसरी ओर पुत्र की याद में घुलती हुई अपनी पत्नी की दयनीय अवस्था—इस द्विविध ताप से बेचारे भीतर ही भीतर घुलकर अधमरे हो गये थे। एक दिन अपने साले अनंतय्या को बुलवाकर कहने लगे—अनंतय्या, अब मेरे जीवन के दिन पूरे हो चले हैं। मैं चाहता था कि पहले जानकी को अपने बेटे के हाथ सौंपदूँ और फिर निश्चिंत होकर यह दुनिया छोड़ूँ। लेकिन भगवान मेरी यह इच्छा भी पूरी नहीं करेंगे। शायद मेरे भाग्य में अपने बेटे के हाथों मेरा दाह-संस्कार होना नहीं लिखा है! वह अब भी ज़िन्दा है, मरा नहीं। मैं इतना जानता हूँ कि आज नहीं तो कल, कभी न कभी वह ज़रूर आयगा। ख़ैर, वह चाहे जब आए पर उसके आने तक तुम्हीं जानकी के संरक्षक हो। यों वह तुम्हारी बहिन ही है। पर अब अपनी माँ समझकर उसकी सेवा करना।

"जोशी जी कभी ऐसी बातें करनेवाले न थे। इन्हें सुनकर

अनंतय्या का दिल धँस गया। उन्हें अपनी सारी शक्ति भाप बनकर उड़ती हुई महसूस हुई। वे यह सोचकर कि शायद उनका वेंकट-सुब्बय्या को संगीत सीखने के लिए प्रोत्साहित करना, इस अनर्थ का कारण है, बहुत दुःखी हुए।

"आप ठीक कहा करते थे जीजा जी कि उसे यों संगीत का नशा न चढ़ाओ। तब मुझे तनिक भी ख़बर न थी कि मेरी बातों का यह नतीजा होगा। कुछ भी हो, इसमें मेरा भी दोष है।

"भला तुम्हें क्या पता था कि ऐसा हो जायगा! तुम तो उसकी भलाई के लिए ही कहते थे। संभव है तुम्हारी प्रेरणा उसकी उन्नति का कारण बने। तुम क्यों चिंता करते हो? जो हुआ सो हुआ। वह अपने मार्ग पर जा रहा है और हमारी किस्मत हमें इस राह पर लिए जा रही है।' जोशी जी ने निराश होकर कहा।

"न जाने किस घड़ी में उन्होंने वे बातें कही थीं; जैसा कहा था वैसा ही हुआ। पुत्र का मुँह देखे बिना ही जोशी जी ने शरीर छोड़ दिया। मरने से घड़ी भर पहले तक वे अपनी पत्नी को समझाते रहे—'जानकी, तुम्हारा बेटा ज़रूर आयगा। जब वह आ जाय तो उस पर नाराज़ मत होना।' यह कहते हुए उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की थी। जानकी देवी को सती होने से बचाने के लिए भगीरथ-प्रयत्न करने पड़े थे। इसके बाद वे अपने पुत्र को एक बार देख लेने की आशा में दिन काटने लगीं।

"वेंकटसुब्बय्या इस आशा के साथ घर पहुँचे कि वे अपनी संगीत-साधना का वृत्तान्त सुनाकर घरके लोगों को प्रसन्न कर देंगे। पर यहाँ आते ही उन्होंने अपनी माता को विधवा-वेश में देखा। वे

मूर्छित होकर कटे हुए पेड़ की तरह गिर पड़े और फिर विलाप करने लगे। उस समय उनके मामा अनन्तय्या यदि वहाँ न होते तो न जाने क्या अनिष्ट हो जाता। दुःख और आत्मग्लानि से पता नहीं वे क्या कर बैठते! किन्तु अनन्तय्या ने उन्हें धीरज बँधाते हुए सँभाल लिया। बीती बिसारकर आगे की सुध लेने का मार्ग दिखाया। जोशी जी की वह अन्तिम कामना—वह अन्तिम सन्देश—भी कह सुनाया कि तुम बड़े व्यक्ति बनकर अपने कुल गौरव की वृद्धि करो। अन्त में अपनी वृद्धा माता की सेवा करने का उपदेश देते हुए यह समझाया कि अगर अब भी तुम पागल बने रहे तो इससे न तो जोशी जी की आत्मा को ही शांति मिलेगी और न तुम्हारा ही कल्याण होगा। अतः अब तुम्हें वही करना चाहिए जो तुम्हारे पिताजी की आत्मा को शांति दे सके। इस तरह वेंकटसुब्बय्या के विक्षुब्ध मन को सीधी राह पर लाये।

"इन सांत्वनापूर्ण शब्दों से वेंकटसुब्बय्या का दुःख कुछ हलका हो गया। किन्तु उनके हृदय का वह घाव नहीं भर सका, जो इस आकस्मिक आघात से हो गया था। अपने गुरु की मृत्यु का दुःख वे भूले भी नहीं थे कि उसी पर पिता की मृत्यु का दुःख आ पड़ा। इससे वह घाव भी हरा हो गया। इधर आत्मग्लानि ने घेर लिया सो अलग। वे अपने आप को धिक्कारते हुए सोचने लगे—'पिता जी की मृत्यु का कारण मैं ही हूँ। मैंने एक दिन भी उन्हें सुख नहीं पहुँचाया। आख़िर पुत्र के नाते मैंने उनकी कौनसी सेवा की? अन्त समय में उन्हें कितनी व्यथा हुई होगी?' इन्हीं विचारों में डूबे रहते। न किसी से बातें ही करते, न घर से बाहर ही निकलते। अन्दर ही अन्दर घुटते रहते। बहुत ऊब जाने पर या तो किसी

एकांत स्थान में सोचते हुए जा बैठते, या अकेले ही घर में टहलने लग जाते। संगीत भी, जो कि उन्हें सबसे अधिक प्रिय था, पश्चात्ताप के कारण अरुचिकर हो रहा था। तानपूरा किसी कोने में पड़ा हुआ धूल में सन गया था।

"अनन्तय्या ने सोचा कि अगर यही हालत रही तो कहीं वे पागल न हो जायँ! इसलिए उनके विषाद-ग्रस्त मन को संगीत की ओर झुकाने का प्रयास करने लगे। वेंकटसुब्बय्या को दुर्ग आए एक महीना हो चुका था। अतः अनन्तय्या ने चुपके से एक संगीत की बैठक का आयोजन किया और तैयारियाँ हो चुकने पर उनको सूचना दे दी। पर वेंकटसुब्बय्या ने स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा—'मामा जी, आप मेरा गाना सुनना चाहें और मैं ना कर दूँ, भला यह कभी हो सकता है? लेकिन थोड़े दिन और ठहर जाइये ताकि मेरा मन स्थिर हो जाय। फिर आप जितना चाहेंगे मैं सुनाऊँगा।"

"वेंकटसुब्बू, मैं अपने लिए नहीं, लोगों के लिए चाहता हूँ। उनकी धारणा है कि इतने बरस तक तुमने कुछ नहीं सीखा है, योंही आवारागर्दी करते रहे हो। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारी योग्यता दिखाकर उनका मुँह बन्द कर दूँ। इसी लिए मैंने यह व्यवस्था की है। अब तुम ज़िद न कर मेरी बात मान लो और एक बैठक हो जाने दो। बाद में तुम अपनी इच्छानुसार करना।"

"अनन्तय्या के अनुरोध पर वे राज़ी हो गये। उनके इस प्रयत्न से, छिप कर बैठे हुए वेंकटसुब्बय्या को बाहर आना पड़ा। उन्होंने एक ही 'बैठक' में दुर्ग के संगीत-प्रेमियों का मन मोह लिया। अपने गुरु के, योग्य शिष्य सिद्ध करने की आकांक्षा, स्वर्गीय पिता की

आत्मा को शांति देने की प्रबल अभिलाषा, माँ के संतप्त हृदय को शीतल करने की कामना—आदि भावों ने उनको प्रेरणा दी । संगीत आरंभ करने से पूर्व, जो जड़ता और विषाद था, वह सब संगीत शुरू करते ही दूर हो गया और आदि से अन्त तक अखंड उत्साह बना रहा । यद्यपि दो-एक वृद्धों ने यह विचार प्रगट किया कि अभी 'ताल' की पकड़ में ज़रा कसर पाई जाती है; यदि इसे ठीक कर लिया जाय तो अवश्य ही ये सब को मात कर सकते हैं । तथापि उस दिन ऐसा कोई श्रोता न था जो संगीत की रस-धारा में सराबोर हो, पुलकित न हुआ हो । सबने उनकी प्रशंसा की ।

"उस दिन की बैठक क्या हुई, रोका हुआ पानी बाँध तोड़कर बह निकला । आज यहाँ तो कल वहाँ—इस तरह आए दिन उनकी बैठकें होने लगीं । उनकी कीर्ति बढ़ते-बढ़ते नायक के कानों तक भी जा पहुँची । एक बार राज्य-दरबार में उनके संगीत का जो आयोजन हुआ, तो उसी दिन से वे दरबारी गायक भी बन गये ।

"यश भी राजा के समान ही होता है । धन, गौरव और मान-सम्मान आदि सब उसके अनुचर बनकर भाट की तरह उसका अनुसरण करते हैं । दो-एक वर्ष में ही चारों ओर उनकी कीर्ति फैल गई । दुर्ग के पाँच-दस गवैये भी उनके साथ-साथ फिरने वाले बन गये । नायक तो उनके संगीत के पीछे पागल ही हो गये थे । राजा के कृपापात्र बन जाने के कारण किसी में इतनी हिम्मत नहीं थी कि कोई वेंकटसुब्बय्या के संगीत की टीका-टिप्पणी कर सके या उनकी त्रुटियाँ निकाल सके । यदि कोई भूले-भटके कुछ टीका कर भी देता तो गौरव के नशे में चूर और अपने को सर्वज्ञ माननेवाले वेंकट-

सुब्बय्या सचाई जाने बिना ही उस पर बरस पड़ते । यौवन, यश, राज्यकृपा और पिछलग्गुओं की प्रशंसा—ये किसे मदोन्मत्त नहीं बना देते ? वेंकटसुब्बय्या की हालत बहुत कुछ ऐसी ही हो गई थी । अब उनका जीवन भी ठाट-बाट का प्रदर्शन हो गया था । अभिमान के नशे में उन्हें यह भी याद नहीं रहा कि अभी वे साधक ही हैं । अपने गुरु की सीख भी याद नहीं रही । वे संगीत-कला को, आँखों के इशारे पर नाचनेवाली दासी समझ बैठे थे । अनन्तय्या ने परिस्थिति ताड़कर उन्हें समझाने की चेष्टा की, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली । यदि आगे भी यही रवैया बना रहता तो वेंकटसुब्बय्या न जाने किस दिशा में भटक जाते । परन्तु एक ऐसी घटना घटी कि उससे, उनकी आँखें खुल गईं ।

"किसी ने सच कहा है कि छेनी की चोट पड़े बिना मूर्ति नहीं बनती । ठीक वैसी ही चोट वेंकटसुब्बय्या को भी लगी, जिसने उन्हें पाषाण से प्रतिमा का रूप दे दिया ।

"राजानुग्रह-प्राप्त और यश के शिखर पर बैठे हुए वेंकटसुब्बय्या अब राजसी ठाट से ही रहने लगे थे । उनका संगीत सुनने के लिए उन्हें मुँहमाँगा धन देना पड़ता था । वे जब जितना गाएँ, उतना ही सुनकर संतुष्ट रह जाना पड़ता । इस पर भी ठसक ऐसी मानो बड़ा अहसान कर रहे हों !

"जब वे संगीत-समारोह में जाते, तब मशालची और चोबदार उनके आगे-आगे चलते । पीछे चाँदी की छोटी-सी पालकी रहती, जिसमें ज़रीदार गिलाफ़ से ढँका तानपूरा रखा रहता । ऐसे दो सेवक भी दायें-बायें चलते रहते, जिनमें एक के पास चाँदी का पान-दान

और दूसरे के पास वेंकटसुब्बय्या के हाथ की सोने की नक्काशीदार छड़ी रहती। आगे-पीछे पिछलग्गू गवैयों का ठट रहता और इन सबके बीच रहते वेंकटसुब्बय्या—ज़रीदार किनार की धोती, महीन रेशमी अचकन और क़ीमती दुशाले से सजे हुए। सुगन्धित ताम्बूल चबाते हुए वे धीरे-धीरे चलते। नगर के लोग यह ठाट देखने के लिए सड़क के किनारे खड़े हो जाते।

"उन्हीं दिनों दुर्ग में कहीं से एक स्वामी जी आ गये। वे उन मठाधीशों जैसे नहीं थे, जो चाँदी की पालकी या हाथी के हौदे पर विराजकर आते हैं। वे ठाट-बाट से दूर, एक मामूली सन्यासी थे। पूजा का कंडया और उसे उठानेवाला एक शिष्य—बस इतनी ही उनकी दुनिया थी। वे बिना किसी स्वागत-समारोह के नगर में आए और एक ब्राह्मण के घर ठहर गये। वे भगवान तांडवेश्वर के उपासक थे। प्रति दिन संध्या के समय पूजा होती, फिर उनका प्रवचन होता और श्रोतागण प्रसाद-चरणामृत पाकर अपने-अपने घर चले जाते। उस समय कभी कोई रामायण पढ़ता और कभी भागवत। कोई एक-दो भजन ही सुना जाता। स्वामी जी संगीत के बड़े प्रेमी थे। कभी-कभी कहते—'मेरा शिव संगीत-प्रिय है, संगीत पर वह जितना रीझता है उतना और किसी सेवा से नहीं।' जब उन्हें नगर में रहते चार-पाँच दिन हो गये तो वेंकटसुब्बय्या की कीर्ति उनके कानों तक भी पहुँची। यह सुनकर स्वामी जी ने कहा—'क्यों न किसी दिन शंकर भगवान की सेवा में उनका संगीत रखा जाय?'

"कुछ भक्तों ने जाकर वेंकटसुब्बय्या के सामने स्वामी जी की अभिलाषा प्रकट की।

" वेंकटसुब्बय्या ने उत्तर दिया—'क्यों नहीं ? अगर वे एक सौ मोहरें दें तो मैं ज़रूर गा सकता हूँ। अन्यथा वे वहीं आकर सुन सकते हैं जहाँ मेरा कार्यक्रम हो।"

" लोगों ने डरते-डरते यह ख़बर स्वामी जी के कानों तक पहुँचा दी—' स्वामी जी, आदमी बड़ा मग़रूर है। जैसे उसी ने मोहरें देखी हैं, हमने नहीं।'

" तब स्वामी जी हँसकर बोले—' वेंकटसुब्बय्या जी बहुत बड़े संगीतकार हैं और साथ ही दरबारी गवैये भी। उनके संगीत के लिए एक सौ क्या, एक करोड़ मोहरें दें तब भी कम है। पर किया क्या जाय ? मेरा तो भगवान भी मेरी ही तरह दरिद्र है। श्मशान में नंग-धड़ंग घूमनेवाला वैरागी, इतनी मोहरें कहाँ से लाए ? फिर भी उसे वेंकटसुब्बय्या का संगीत सुनने की अभिलाषा हो गई है। उसी अभिलाषा को मेरे मुँह से प्रगट करा दी। अब उसका यह नतीजा निकला है। देखें, जैसी उसकी इच्छा।'

" इस घटना के दो-तीन दिन बाद ही नगर श्रेष्ठी के यहाँ वेंकटसुब्बय्या के संगीत का आयोजन हुआ। स्वामी जी को भी यह ख़बर मिली। तब उन्होंने अपने शिष्य को बुलाकर कहा—' आज शाम को वेंकटसुब्बय्या का संगीत होनेवाला है। मृदंग पर तुम्हें उनके संगीत का साथ देना होगा।' उस बेचारे ने कभी मृदंग छुआ तक नहीं था। उसने स्वामी जी के चरण छूकर कहा—' गुरु जी अपराध क्षमा हो, मुझे कुछ आता ही नहीं.........मैं !'

" घबराओ नहीं, यह भगवान की आज्ञा है कि तुम्हीं मृदंग बजाओ। भगवान पर भरोसा रखकर चले जाओ।' यह कहते हुए

स्वामी जी ने उसके ललाट पर विभूति लगाई और विदा कर दिया। जाने से पहले उसे बताया कि शायद वे बच्चा समझ कर तुम्हारी उपेक्षा करें तो तुम कहना कि एक बार मुझे मौका तो दीजिए, फिर देखना। स्वामी जी के विभूति लगाते ही उसने अपने हृदय में एक विचित्र प्रकार की स्फूर्ति का अनुभव किया। उसने 'जैसी आपकी आज्ञा' कहकर प्रणाम किया और फिर संगीत-सभा की ओर चल पड़ा।

"शाम के समय नगर श्रेष्ठी के यहाँ सभा जमी। वेंकट-सुब्बय्या बड़े ही राजसी ठाट से एक ऊँचे आसन पर आ बैठे। सभा की सजावट नगर श्रेष्ठी का वैभव प्रदर्शित कर रही थी। बीच में नगरके गण्य-मान्य व्यक्ति और संगीत-रसिक अपने रोम-रोम को कान बनाकर संगीत शुरू होने की प्रतीक्षा कर रहे थे। तानपूरे की गंभीर ध्वनि गूँज रही थी। मृदंग-वादक ने मृदंग चढ़ाई और अपना सिर हिलाकर तैयारी की सूचना दी। संगीत शुरू ही होने वाला था कि तभी स्वामी जी के शिष्य ने खड़े होकर कहा—'गुरुजन, मुझे क्षमा करें, मैं कुछ कहने की आज्ञा चाहता हूँ।

"वेंकटसुब्बय्या, सभा में खड़े उस लड़के के विषय में कुछ भी नहीं समझ सके, फिर भी उससे पूछा—'कहो, क्या बात है?'

"आज मृदंग पर आपका साथ करने की आज्ञा चाहता हूँ।" लड़के ने कहा।

"उसकी बात सुनकर सभा के लोग अवाक् रह गये। वेंकट-सुब्बय्या ने उसे क्षण भर घूर कर देखा। लड़के की उम्र यही कोई दस-बारह की रही होगी। था भी बड़ा सुन्दर। उसकी बातें और

धैर्य को देखकर तो वेंकटसुब्बय्या प्रसन्न हुए लेकिन उसके प्रश्न से ज़रा बुरा भी लगा। अतः उसे कहा—'जा कहीं बाहर जाकर खेल, तेरा मृदंग से क्या सम्बन्ध?'

"लड़के ने फिर नम्रतापूर्वक कहा—'गुरुजन क्षमा करें, केवल मेरी उम्र देखकर ही उपेक्षा करना उचित नहीं है। आप मेरी विद्या देखें। अगर मुझमें कला न हो तो सभा जो भी दंड दे, मैं उसे भोगने के लिए तैयार हूँ।'

"उसकी बातों में ज़रा भी हिचक न थी। सभाजनों के लिए यह एक अच्छा ख़ासा मज़ाक रहा। परन्तु वेंकटसुब्बय्या का हृदय लड़के की बात से विचलित हो गया।

"वेंकटसुब्बय्या जी, आप ही कहिए न? अगर मैं ठीक तरह से आपका साथ न दे सकूँ तो उसमें मेरा ही अपमान होगा और अच्छा बजाया तो सारी सभा उसका आनन्द उठायगी। देखिए, यदि आपने अवसर नहीं दिया तो मैं व्यर्थ ही हँसी का पात्र बना दिया जाऊँगा। अतः मैं फिर प्रार्थना करता हूँ कि..........?'

"लड़के की बातें सुनकर वेंकटसुब्बय्या दिग्भ्रान्त से हो गये। उसकी विनय भरी बातों के पीछे एक चुनौती भी थी। अतः वे सोचने लगे—'यदि इस समय मैं 'ना' कहता हूँ तो क्या लोग यह नहीं कहेंगे कि वेंकटसुब्बय्या एक छोटे से लड़के से घबरा गया? संभव है कोई मुँह पर कुछ न कहे, पर क्या पीठ पीछे मेरी हँसी नहीं उड़ायँगे? खैर, है तो बच्चा ही; मेरा साथ यह क्या देगा? शायद किसी ने छेड़छाड़ के लिए इसे भेजा है। क्षण भर मृदंग बजाकर अपने रास्ते लगेगा। बस इतनी ही तो बात है?' यह सोचकर

उन्होंने स्वीकार कर लिया—'अच्छी बात है; चले आओ।'

"बालक धीर-गति से मंच पर पहुँचा। मृदंगवाले से मृदंग लेकर उस पर एक 'थाप' दी और फिर कहा 'शुरू हो जाय।' वेंकटसुब्बय्या ने एक राग का आलाप भरा। उसके बाद स्थायि पकड़ा और उस बालक की ओर मुँह कर ताल के लिए संकेत किया। उसने गुरु का स्मरण कर 'बोल' बजाना शुरू किया। यह देखकर वेंकटसुब्बय्या चकरा गये। ताल तो वही था जो उन्होंने बताया था, पर उसके हिसाब का कुछ भी पता नहीं चल रहा था। वे एक तान लेकर 'सम' पर आते, पर वह आगे या पीछे चला जाता और ताल का मेल नहीं बैठता। एक बार, वेंकटसुब्बय्या ने जो मुँह की खाई तो बालक ने उनकी तरफ़ देखकर विचित्र भाव से हँस दिया। दूसरी बार वे फिर फिसल गये और तीसरी बार भी यही हाल रहा। 'ताल' न पकड़ पाने के कारण वे पसीना-पसीना हो गये। उसके फेर में पड़ने के कारण वे बेसुर भी होने लगे। ताल की ओर ध्यान देते तो सुर बिगड़ जाता और सुर की ओर ध्यान देते तो ताल ग़लत हो जाता। एक मिलता तो दूसरा छूट जाता। इस तरह वेंकटसुब्बय्या का उस दिन वाला संगीत यों लड़खड़ा गया, जैसे कोई अधकचरा नट रस्से पर चलते हुए लड़खड़ा जाता है।

"तभी उस लड़के ने कहा—'महाशय जी, ताल के साथ सुर भी बिगड़ता जा रहा है। क्या इस प्रकार गाना उचित है?"

"यह सुनकर किसी श्रोता ने ठहाका लगाया। वेंकटसुब्बय्या के पैरों तले से ज़मीन खिसक गई। उनका मुँह अपमान की लू से झुलस गया।

"उस बालक ने पुनः व्यंग्य-सूचक प्रश्न किया—'शायद आप इसी लिए मुझे अनुमति देना नहीं चाहते थे, क्यों?' यह प्रश्न वेंकट-सुब्बय्या को कोड़े के प्रहार के समान लगा। वे उसी तरह तड़प उठे जिस प्रकार कोई अच्छी नस्ल का घोड़ा मार खाने पर तड़प उठता है। उसी समय सभा में किसी ने ताली पीट दी, मानों बालक के कथन का समर्थन कर रहा हो। उन्हें ऐसा महसूस हुआ मानो भरी सभा में ये अपमानजनक बातें, व्यंग्यपूर्ण हँसी और उपहास की तालियाँ बनकर गूँज रही हैं; उनकी ख्याति की हत्या हो रही है और हज़ारों आँखें इस हत्या को देख रही हैं।

" वेंकटसुब्बय्या के लिए, इस अपमान की लपटों में अधिक समय तक ठहरना असह्य हो गया। वे सभा छोड़कर चले गये। पर लोगों की हँसी ने उनका पीछा किया, जैसे दैहिक पाप अत्मा का पीछा करते हैं।

"उन्हें जाते देखकर तम्बोली और मशालची भी उनके पीछे-पीछे चल पड़े। किन्तु वेंकटसुब्बय्या, उन्हें रोषपूर्वक अपने साथ आने से मना करते हुए, तेज़ी से चलते बने। आज उनके गर्व रूपी पहाड़ पर वज्रपात हुआ था। इससे उनके रोम-रोम में जलन हो रही थी। उन्हें ऐसा लग रहा था, मानो उनके मस्तिष्क को कोई काँटों में घसीट रहा है। वे जिधर मुड़ते उधर ही, वह व्यंग्यपूर्ण हँसी उनका पीछा करती हुई मालूम हो रही थी। वे आँख मूँदकर चले जा रहे थे। उन्हें इतना भी होश नहीं था कि वे किस ओर जा रहे हैं। रास्ते में जिस किसी ने उन्हें इस हालत में देखा, वह आश्चर्य-चकित हो सोचता ही रह गया।

"वेंकटसुब्बय्या को ऐसा मालूम हो रहा था मानो कोई उन्हें झकझोर कर पूछ रहा हो—'क्या अब भी तुम अपने आप को संगीतज्ञ समझते रहोगे!—एक साधारण बालक से पराजित होकर भी! बताओ, लोगों को अब कौनसा मुँह दिखाओगे! अब तुम्हारी यश-गाथा समाप्त हो चुकी है। तुमने अपने मुकाबिले में कभी किसी को कुछ नहीं समझा था। कहाँ है अब तुम्हारी वह शान? संगीत की दुनिया में सबको तुच्छ मानना—क्या यही तुम्हारी विद्या की सार्थकता है? अबतक तुम गुरु बनने का घमंड रखते थे, पर अब तो तुम उस किशोर वादक के शिष्य बनने के योग्य भी नहीं रह गये? बताओ, अब क्या करोगे? क्या अपमान की आग में झुलसते हुए तुम भी अश्वत्थामा की तरह जंगलों में मारे-मारे फिरोगे?' इसी तरह के हज़ारों सवाल, भँवर में पड़े हुए पत्तों की तरह, उनके दिमाग़ में चक्कर काटने लगे।

"इसी मनोव्यथा में जलते हुए, वे नगर के बाहर लिंगण्णा के बगीचे तक पहुँच गये। वहाँ वे निर्जन-वन की धुँधली छाया में घास पर लेट गये। उनका मन जल रहा था, इसलिए उन्हें घास भी कुछ गरम-सी जान पड़ी। ठंडी हवा के झोंके, उन्हें गरम आहों की तरह महसूस होने लगे। 'अब आगे क्या किया जाय?'—यह सवाल उनके सामने भूत बनकर खड़ा हो गया।

"उस समय अचानक उन्हें तिरुमलय्या जी की मृत्यु की याद आ गई। वे चौंककर उठ बैठे, मानो साँप पर पैर पड़ गया हो।........और फिर सोचने लगे—'तो यह उसी पाप का फल है! एक दिन मैंने भरी सभा में उनका अपमान किया था। आज का

मेरा अपमान क्या उसीका परिणाम है? उन्होंने पराजित होने पर फिर किसी को अपना मुँह नहीं दिखाया था। वह ठीक ही था। एक पानीदार आदमी इसके सिवाय और कर भी क्या सकता था! गौरव खोकर, मृतक की भाँति जीवित रहने की अपेक्षा, मर कर अपना नाम बचा लेना, क्या श्रेयस्कर नहीं है? यही ठीक है—बिलकुल ठीक है।' उनके पराजय से अपमानित हृदय ने समर्थन किया। सोचते-सोचते उनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। उन्होंने तिरुमलय्या जी का स्मरण कर उनसे क्षमा-याचन करते हुए कहा—'गुरुदेव, मुझे माफ़ कर दीजिए। उस दिन मुझसे अनजाने में अपराध हो गया था। मैं मूर्ख था।' यह कहकर उन्होंने हाथ जोड़ लिए। माँ और अनन्तय्या को भी नमस्कार किया और फिर सदानन्द बुवा का स्मरण कर बोले—'गुरु जी, आप भी मुझे क्षमा कर दीजिए; मैं आपका योग्य शिष्य न बन सका। आप जहाँ हों, वहीं से यह आशीर्वाद दीजिए कि कम से कम अगले जन्म में मुझे वह योग्यता मिले।' इसके बाद अपने पिता को आँसुओं की श्रद्धांजली चढ़ाई। उन्हें ऐसा लगा कि वही कुआँ उनका नाम लेकर पुकार रहा है, अपने पास बुला रहा है। तभी उन्हें इस बात का ख्याल आ गया कि वे उसी कुएँ के पास खड़े हैं, जिसमें तिरुमलय्या जी ने प्राण छोड़े थे। भाग्य का क्रूर अट्टहास देखकर वे थर-थर काँप उठे। 'ठीक है, मैं भी इसी जलकुंड में प्रायश्चित्त करूँगा'— यह निश्चय कर वे कुएँ की सीढ़ियों की तरफ़ बढ़े, मानों मौत ने उन्हें आने का इशारा किया हो। उस कुएँ के पानी का काला-काला रंग, मौत की काली आँखों की तरह मालूम पड़ा। बस वे कूदना ही चाहते थे कि किसी ने पीछे से आकर उनकी बाँह पकड़

ली। वे किसी अज्ञात भय से घबरा गये; फिर ज़रा मुड़कर देखा। पर अँधेरे में यह नहीं दिखाई पड़ा कि वह कौन था। हाँ, इतना तो स्पष्ट हो गया कि किसी ने उनकी बाँह मज़बूती से पकड़ रखी थी।

"छोड़ दीजिए मेरा हाथ—कौन हैं आप?" वेंकटसुब्बय्या ने खीजकर कठोर स्वर में पूछा।

"तुम मुझे नहीं जानते। पर मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ। मुझे पहले ही संदेह हो गया था कि शायद तुम यह कायरों जैसा काम कर बैठोगे। इसलिए मैं तुम्हारे पीछे-पीछे चला आया था। मैं देखता हूँ कि मेरा अनुमान ग़लत नहीं निकला।" उस अपरिचित व्यक्ति ने कटुतापूर्ण शब्दों में कहा।

"शायद ऐसा ही हो। पर आप मुझे अपने हाल पर छोड़ दीजिए—यहाँ से चले जाइये।"

"पहले मेरी एक बात सुन लो। फिर यदि तुम्हें यह ठीक लगे तो यही करना।"

"आख़िर आप हैं कौन?"

"मैं एक मामूली सन्यासी हूँ। एकबार मैंने तुम्हारा संगीत सुनने की इच्छा प्रकट की थी और तुमने सौ मुँहरे माँगी थी। याद है? मैं वही व्यक्ति हूँ। तुम क्या हो, यह मैं जानता हूँ। आज जिसने तुम्हारे गर्व को चूर-चूर कर दिया है, वह मेरा ही शिष्य है। मैंने ही उसे भेजा था ताकि तुम्हारी आँखें खुल जायँ।"

"ठीक, मैंने आपको गाना नहीं सुनाया, तो आज आपने उसका बदला ले लिया—यही बात है न? अब आपकी इच्छा पूरी हो गई है; घर जाकर खुशियाँ मनाइये।" वेंकटसुब्बय्या ने व्यंग्यपूर्वक कहा

"अगर बदला लेना ही मेरा उद्देश्य होता तो यहाँ तक तुम्हारे प्राण बचाने नहीं आता। माया से अन्धे—तुम्हारी आँखों को बदले के सिवाय और कुछ नहीं दिखाई देता। अगर कोशिश करो तो कुछ और भी देख सकते हो।"

"और क्या देखूँ?"

"अज्ञान-तिमिर से दूर उस प्रकाशमान ज्ञान को देखो। अहंकार के नीचे छिपे उस 'नादब्रह्म' को पहचानो। भगवान ने तुम्हें अद्भुत प्रतिभा दी है। लेकिन कीर्ति प्राप्त करने के लोभ में तुम अंधे बन गये हो। इस अहंकार के कारण कि 'मैं सब कुछ जान चुका हूँ' तुम्हारा सर्वनाश हो रहा है। तुम उस ईश्वरदत्त प्रतिभा का, एक वेश्या की तरह धन और ख्याति के लोभ में पड़कर विक्रय कर रहे हो। मुझे तुम्हारी उन्नति में बाधक उस अहंकार का नाश करने के लिए ही यह नाटक रचना पड़ा था। आज तुम मेरे शिष्य के पांडित्य से पराजित नहीं हुए हो बल्कि..........।"

"बल्कि क्या?"

"तुम अपने ही अहंकार से पराजित हुए हो। अहंकार मनुष्य का परम शत्रु है। जब वह नष्ट होने लगता है, तब मनुष्य को भी नष्ट करने की कोशिश करता है। ऐसे समय उस पर हावी होकर, ऊपर उठना ही पुरुष का लक्षण है। अहंकार एक रोग है—आत्म-घातक रोग। ऐसे रोग से छुटकारा पाने पर तुम्हें प्रसन्न होना चाहिए, लेकिन तुम तो दुःखी होकर मरने पर उतारू हो रहे हो! क्या यह तुम्हारी मूर्खता नहीं है?"

"इज़्ज़त न रहने पर जीना किस काम का!"

"यह कहना एक दूसरे प्रकार कि मूर्खता है। क्या आज तुम्हारी इज्ज़त चली गई?"

"और नहीं तो क्या?"

"इज्ज़त नहीं, अज्ञान नष्ट हुआ है। अज्ञान का मूर्तरूप 'अहंभाव' नष्ट हुआ है। तुम्हारी इज्ज़त तो उसी दिन मिट गई थी जब तुम दरबारी गायक बने—तुमने अपनी कला के लिए सौ-सौ मोहरें और सोने के तोड़े की माँग की। इस तरह स्वयं तुमने ही अपना मूल्य निर्धारित कर दिया। वास्तव में तुम्हारे अहंभाव ने ही यह भ्रम पैदा किया था कि तुम 'अपमान' को 'मान' और 'मान' को 'अपमान' समझ बैठो। किन्तु अब, जब कि पराजय के आघात से तुम्हारे ज्ञान-चक्षु खुलने लगे, तब उस अहंभाव ने फिर तुम्हें अपनी माया-जाल में जकड़ दिया।"

"कुछ भी हो, आज दुनिया की नज़र में तो मेरी नाक कट गई न? यह सहकर अगर मैं जीवित रहा तो क्या दुनिया मुझ पर हँसेगी नहीं!"

"तो क्या तुम दुनिया को खुश रखने के लिए जी रहे हो? तुम्हें अपनी भूल स्वीकार करनी चाहिए। सत्य का पालन करना अपराध है क्या? मान लो, कुछ अज्ञानी तुम्हारा उपहास करने लगें तो क्या तुम उन से डरकर अपना जीवन खो बैठोगे? इस मिथ्या भय को छोड़ो! तुम अभी फूलने-फलने वाले पौधे हो। अहंकार इस पौधे को लगनेवाला रोग है। पहले इसे कुचल दो। तुम्हारी अर्जित-विद्या बिलकुल कम है। तुम्हें अभी बहुत कुछ सीखना है। अतः अपनी उन्नति की ओर ध्यान दो। ज़रा सोचो कि तुम्हारे गुरुदेव ने

किस साधना का उपदेश दिया था? क्या तुमने वह पूरी कर ली?"

"सन्यासी की बातें सुनकर उन्हें साधना-पथ से भ्रष्ट हो जाने की अपनी भूल मालूम हुई और वे लज्जित हो गये। सदानन्द बुवा की बातें भी उनके कानों में घंटा-निनाद की तरह ध्वनित हो उठीं— 'राग एक देवता है; किसी एक राग-देवता को प्रसन्न कर लेने तक गायक का जीवन पूर्ण नहीं हो पाता।' वे विचार में पड़ गये। अब तक इस बात को तो भूल ही गये थे। अतः उन्हें भान हुआ— 'सच है, मैं यश के मोह में पड़कर अंधा हो गया था। मेरे जीवन का कितना समय नष्ट होगया!' यह सोचते हुए वे तुरंत सन्यासी के पैरों पर पड़ गये।

"गुरुदेव, आपने मुझ अज्ञान से अंधे को प्रकाश बनकर मार्ग दिखाया है।"

"अब विवेकी बनकर जीवन बिताओ। तुम्हारा जीवन संगीत के लिए समर्पित हो। आज एक बात और कहता हूँ, इसे हमेशा के लिए याद रख लो।"

"कौनसी बात?"

"तुम्हारी कला ,ईश्यरीय देन है। अतः एक कलाकार का आदर्श समुद्र के जल के समान होना चाहिए, जो पहले बादल बनकर बरसता है, फिर नदी बनकर लोक-कल्याण करता है और अन्त में पुनः समुद्र में जा मिलता है। ईश्वर की कृपा से खिले हुए प्रतिभा-सुमन को, उसी के अनुग्रह के लिए लालायित रहकर, इस दिव्य-सृष्टि की सेवा करते हुए, अन्त में उसी के दिव्य चरणों में समर्पित हो जाना चाहिए। क्या, फूल कभी अपना आदर्श भूलकर जनता से

अपने सौरभ का मूल्य माँगता है ? तुम्हें भी फूलका उद्देश्य अपनाना चाहिए। अपने प्रतिभा-सुमन के परिमल से किसी को वंचित मत रखो। जिस प्रकार सूरज बिना कुछ लिए ही अपना प्रकाश फैलाता है उसी प्रकार तुम्हारी कला और विद्या भी विश्व में फैले। एक दीपक की तरह बिकनेवाले न बनो। बल्कि दीपक से सूर्य बनो।"

"गुरुदेव, आज से मैं आपके ही बताए मार्ग पर चलूँगा।" वेंकटसुब्बय्या ने कहा।

"अच्छा, तो अब तुम घर चले जाओ। तुम्हारे एकाएक आने से नगर में सनसनी फैली हुई है। तुम्हारी बूढ़ी माँ भी परेशान हो रही होगी।"

"शीघ्र ही दोनों नगर की ओर चल पड़े। रास्ते में वेंकट-सुब्बय्या, स्वामी जी की बातों पर मनन करता रहा। धीरे-धीरे उनकी हर एक बात उसे उचित और सत्य जान पड़ी। आत्महत्या के क्षुद्र विचार पर बड़ी ग्लानि हुई। उस समय सहसा उन्हें एक बात पूछने की इच्छा हुई। लेकिन सीधे ढंग से पूछने में कुछ संकोच हो रहा था। अतः घुमा-फिरा कर कहा—गुरु जी आपके शिष्य में भी अद्‌भुत शक्ति है।'

"नहीं, उसमें कोई शक्ति नहीं है।"

"तो फिर आज वह मृदंग इतना अच्छा कैसे बजा सका ?"

"उस दिन जो तुमने अनुपम गायन से तिरुमलय्या को पराजित किया, क्या वह तुम्हारी शक्ति थी ?"

"जी नहीं। मैं अब तक यह नहीं जान सका हूँ कि उस दिन इतना अच्छा कैसे गा सका ?"

"मेरे शिष्य का मृदंग-वादन भी ठीक वैसा ही समझो! जब तुम अपनी साधना के बल से सिद्ध बनोगे, तब तुम्हें स्वयं ही यह मालूम हो जायगा। उस दिन का तुम्हारा भव्य-गान और मेरे शिष्य का आज का मृदंग-वादन—ये दोनों बातें तुम्हारी समझ में आ जायँगी।

"इस तरह बातें करते-करते दोनों नगर में आ पहुँचे थे। वेंकटसुब्बय्या की तलाश में निकले हुए लोग भी, जो मशालें लिए हुए थे, रास्ते में मिल गये।

"इस घटना का उनके जीवन पर अद्‌भुत परिणाम हुआ। उसके कुछ दिनों बाद ही उन्होंने संम्पूर्ण राज्यगौरव छोड़ दिया। अब वे फिर से साधक बन गये।

"नगरवासियों को यह आमूल परिवर्तन बड़ा विचित्र-सा लगा। लेकिन किसी में इतना साहस नहीं था कि वे इसका कारण जानें। उनका सुन्दर संगीत, जो अब तक सिर्फ़ राजा-रईसों के लिए ही था। अब सब लोगों के लिए हो गया। जहाँ कहीं भी उन्हें गाने के लिए कहा जाता, वे वहीं पहुँच जाते। अब वे सिर्फ़ अपनी साधना की ही बात सोचा करते थे।

"किसी एक राग को विशेष रूप से चुन लो और उसकी साधना करो—सदानन्द बुवा की यह पुरानी बात उन्हें फिरसे याद आ गई। तदनुसार वेंकटसुब्बय्या दिन-रात उसकी छानबीन और साधना में जुट गये। वे समय-समय पर विभिन्न राग गाते रहते। उनकी प्रकृति, मूल-स्वरूप और उनके अधिदेवता आदि विषयों पर गंभीर चिंतन करते। अब वे प्रणव-साधना की नादोपासना में लीन हो गये।

"आपने सुना ही होगा कि जब कभी कोई साधक, तपस्वी या

ऋषि तपस्या में लगते, तब उन्हें भ्रष्ट करने के लिए कुछ देवी-देवता विघ्न डालकर उनकी साधना नष्ट कर देते थे ? यह बात झूठ नहीं है । वेंकटसुब्बय्या के जीवन में भी एक ऐसी ही घटना घट चुकी है । एक बार वे साधना छोड़कर स्त्री के पीछे पागल होगये थे ।"—चिन्नप्पा जी ने कहा ।

यह नई बात सुनकर मेरे कान खड़े हो गये । चिन्नप्पा जी का कहानी कहने का ढंग ही कुछ ऐसा था कि मैं उस पर पूरी तरह मुग्ध हो गया था । जादूगर की करामात से बच्चे कैसे दंग रह जाते हैं, ठीक उसी तरह मैं भी उस पर मुग्ध था । कहानी सुनने की धुन में मेरी नींद पता नहीं कहाँ गायब हो गई थी ।

"कहानी सुनते-सुनते सवेरा हो गया है"—यह कहकर चिन्नप्पा जी ने मुझे समय का बोध कराया । सुन्दर प्रभात का धूमिल प्रकाश, द्वार के छिद्रों से अन्दर आ रहा था । गाँव के मुर्गे बाँग देकर प्रभात की घोषणा कर रहे थे । नींद न लेने से चिन्नप्पा जी की आँखें अंगारों की तरह लाल-लाल हो उठी थीं । उन आँखों ने भी प्रभात होने की गवाही दी । किन्तु कहानी सुनने की मेरी प्रबल लालसा अब भी ज्यों की त्यों बनी हुई थी ।

चिन्नप्पा जी की बात सुनकर मैंने कहा—"यह भी एक तरह से अच्छा ही हुआ । सोने की झंझट से तो बचे ! मैं समझता हूँ कि आगे की कहानी और भी रोचक होगी । लगे हाथ उसे भी सुना दीजिए ।"

"दुर्ग में यह वृत्तांत किसी ने नहीं सुनाया ?"

"नहीं न !"

"इस कहानी को मुझसे भी अच्छे जानने वाले दुर्ग में ही एक.........हैं। आप उनसे सुनेंगे तो मज़ा आ जायगा!"

"कौन सज्जन हैं वे?"

"आप उनके पास जा भी सकेंगे या नहीं, ज़रा.........।"

"क्यों, ऐसी क्या बात है?"

"कुछ ऐसी ही.........वह वेश्याओं का घर है। बुरुजनहट्टी के पास ही व्यासराय जी का मठ है न? वहीं पर पुट्टतायम्मा का मकान भी है। आप उसी के मुँह से यह कहानी सुनें तो ठीक रहे। मैंने भी उसी से सुनी थी।"

"आप उसे जानते हैं?"

"क्यों नहीं, बहुत अच्छी तरह!"

"तब आप भी मेरे साथ चलें तो बड़ा अच्छा हो। कोई हर्ज़ न हो तो एक दिन की फुरसत निकाल लीजिए न?"

"मुझे तो फुरसत ही है। लेकिन मेरे चलने से व्यर्थ ही आप पर बोझ पड़ेगा।"

"इसकी चिन्ता आप न करें, अब तो चलेंगे न?"

"हाँ; लेकिन पहले पेट की भी कुछ सुन लें। नींद तो इस काम में चली ही गई है। यहाँ से दुर्ग तक पैदल जाना कोई हँसी खेल नहीं है। पहले डटकर खा–पी लें, फिर चलने की सोचें; तब तक नहीं।" चिन्नप्पा जी ने कहा।

मुझे इसमें क्या आपत्ती हो सकती थी!

...नौ

गाँव में मुरमुरे और दूध मिल गया था। उसी से पेट की आग बुझाकर हम दोनों चित्रदुर्ग की ओर चल पड़े। मुझे संगीत के बारे में ज़्यादा जानकारी नहीं है, फिर भी, जब से मैंने चिन्नप्पा जी के मुँह से यह कहानी सुनी है, तब से एक संशय मन को कुरेद रहा था। उनके कथनानुसार वेंकटसुब्बय्या की संगीत-शिक्षा सदानन्द बुवा के पास, अर्थात् एक उत्तरी संगीतज्ञ के पास हुई थी। इसलिए हम उनके संगीत को 'हिन्दुस्तानी-संगीत' कह सकते हैं, जो कि कर्नाटकी संगीत से बिलकुल भिन्न है। तब वेंकटसुब्बय्या ने जो कुछ सीखा था वह हिन्दुस्तानी संगीत था या कर्नाटकी?—इस बारे में मैंने चिन्नप्पा जी से जानना उचित समझा। क्योंकि वे संगीत के बारे में मुझसे ज्यादा जानते हैं और मेरा संशय भी किसी हद तक दूर कर सकते हैं। यह सोचकर मैंने उनसे पूछा—'क्यों चिन्नप्पा जी, वेंकटसुब्बय्या जी ने जो संगीत सीखा था, वह उत्तरी था या दक्षिणी?'

चिन्नप्पा जी ने हँसकर कहा—"उत्तरी भी नहीं, दक्खिनी भी नहीं। उन्होंने जो सीखा, वह कर्नाटकी संगीत था।"

मैं यह न समझ सका कि इसका क्या मतलब हुआ? उत्तरी और दक्षिणी के अलावा, क्या हमारा कोई अलग ही संगीत है? ऐसा

तो मैंने कहीं नहीं सुना था। यह एक बिलकुल नई बात थी। तब मैंने फिर पूछा—'आपकी बात मेरी समझ में नहीं आई।'

"अजी साहब, मैंने जो कुछ कहा वह ठीक ही है। उत्तरी और दक्खिनी का भेद आजकल का है। यानी त्यागराज स्वामी, शामा शास्त्री और मुत्तुस्वामी दीक्षित के बाद का है। उन्होंने ही इस पद्धति का विकास किया। उनके पहले उत्तरी और दक्खिनी पद्धतियों में ज़्यादा फ़रक नहीं था। संभव है इनमें देश-काल के प्रभाव से कुछ अन्तर रहा हो। किन्तु ऐसी कोई बात नहीं थी कि हम इन दोनों को भिन्न बता सकें। पुरन्दरदास और त्यागराज, असल में मुत्तुस्वामी दीक्षित से भी पहले हुए हैं। स्वामी कनकदास जी 'कागिनेले' के रहने वाले थे, जो उत्तर कर्नाटक में है। वहाँ उत्तरी संगीत का ही अधिक प्रचलन है। अब आप ही बतलाइये कि उनके राग उत्तरी हैं या दक्खिनी? हालाँकि मुझे स्वयं को भी संगीत के बारे में अधिक जानकारी नहीं है। इधर-उधर पढ़कर या बड़े-बूढ़ों से सुनकर ही कुछ बातें जान सका हूँ। बस, अपनी इतनी ही पहुँच है। केलदि बसप्पनायक रचित 'शिवतत्व रत्नाकर' ग्रन्थ में संगीत का भी कुछ वर्णन है। अगर उसमें बताई हुई पद्धति से गाने लगें, तो उस समय के रागों में और आज के प्रचलित रागों में थोड़ा अन्तर आ जाता है। उसमें उत्तरी राग-रागिनियों की तरह हमारे रागों में भी स्त्री-पुरुष और उनके पुत्र-पुत्रियों का अस्तित्व माना गया है। 'शिवतत्व रत्नाकर' लगभग वेंकटसुब्बय्या के ज़माने में लिखा गया है। इसी आधार पर मेरा अनुमान है कि उस समय शायद आजकल जैसा भेद नहीं रहा होगा।"

चिन्नप्पा जी की बातें सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। उनकी संगीत सम्बन्धी गहरी जानकारी देखकर मेरी आँखें खुल गईं। कितना ज्ञान है इन्हें! पर यह देखकर मुझे दुःख हो रहा था कि ऐसे व्यक्ति को भी इतना जूझना पड़ता है! हमारे देश में योग्य से योग्य व्यक्ति को भी रोटी के लिए खून-पसीना एक करना पड़ता है।

मेरी जिज्ञासा और बढ़ गई। अतः मैंने फिर बात छेड़ी—'तो चिन्नप्पा जी, क्या उस ज़माने में ऐसा भेद ज़रा भी नहीं रहा होगा?'

"असलियत क्या थी, यह तो भगवान ही जाने। मगर आप ही सोचिए कि जब दो अलग-अलग व्यक्ति किसी एक ही राग को गाते हैं, तो उनमें भिन्नता मिलती है या नहीं? यह देखा गया है कि स्वर, ताल और चीज़, एक होने पर भी वे उसको एक तरह से नहीं गाते। कुछ न कुछ अन्तर ज़रूर रहता हैं। मसलन, स्वामी त्यागराज का एक पद लें। उसकी शुरूआत यमन-कल्याणी से होती है पर अंत में भैरवी के सुर आ जाते हैं। इस तरह उन्होंने 'प्राण-स्वरों' में ही फ़र्क कर दिया है। आज इन सूक्ष्म तत्वों पर विचार करते हुए गानेवाले कितने लोग हैं, आप ही बतलाइये? कितने गायकों ने इसका कारण खोज निकाला है? असल में हम यह भी नहीं जानते कि वे कैसे गाते थे। बस, राग का नाम देखा और गाने लग गये; और फिर समझ बैठेते हैं कि शायद उस समय ऐसा ही रहा होगा। इतना ही नहीं, बल्कि उनके रचे हुए कुछ पदों के सम्बन्ध में भी यह नहीं समझ पाते कि उन्हें किस राग में गाया जाता है! उदाहरण के लिए दीक्षित जी की एक चीज़ लें—'पाये त्वं पाहि........।' इसके राग के सम्बन्ध में काफ़ी मत-भेद है। कुछ लोग इसे 'सुधा

तरंगिणी' मानते हैं, तो कुछ सिर्फ़ तरंगिणी ही। यह सब रटा-रटाया है; जैसा सुना, वैसा मान लिया। इन सब बातों का सरांश यह है कि उत्तरी और दक्खिनी संगीत में, रागों के नाम सम्बन्धी भेदों के अलावा और कोई भेद नहीं है। वे जिसे 'मालकौंस' कहते हैं, हम उसे 'हिंडोला' कहते हैं। जिस राग को वे 'भैरवी' कहते हैं, हम उसे 'हनुमतोड़ी' कहते हैं। बस, इतना ही भेद है। उत्तरी गायक 'श्रुति' को अपने प्राणों के समान मानते हैं और दक्खिनी गायक 'ताल' को। इन्हीं बातों के भेद से यह अलग-अलग लगत है। मेरे ख्याल से पहले ऐसा नहीं रहा होगा। ज़्यादा क्या कहें, पुरन्दरदास का 'सुलादि उगा भोग' पद है न? बतलाइये, आज उसके राग के निश्चित रूप से कौन परिचित है? हम, सब कुछ भूलकर अब सिर्फ़ टर-टर करनेवाले बन गये हैं।"

"आपका कहना बिलकुल ठीक है।" मैंने चिन्नप्पा जी की हाँ में हाँ मिलाते हुए कहा। दूसरा चारा भी क्या था!

इसी तरह इधर-उधर की बातें करते हुए लगभग नौ बजे हम दोनों दुर्ग पहुँचे। रास्ते में कुछ खा लेने से भूख शांत हो गई थी। अतः दुर्ग पहुँचकर मैंने चिन्नप्पा जी से पूछा—'पुट्टतायम्मा के घर अभी चलने का इरादा है, या कुछ आराम करने के बाद?'

"नहीं साहब, अभी चलना चाहिए। शाम का समय उनके व्यापार के लिए होता है। उस समय हम जैसे बिना मतलब के आदमियों को वहाँ नहीं जाना चाहीए।"

मुझे भी ठीक जँचा। हम दोनों बुरुजनहट्टी की तरफ़ चल पड़े।

पहले किसी ज़माने में 'बुरुजनहट्टी' चित्रदुर्ग के रसिकों का

केन्द्र—गणिकागार था। वह चन्द्रिका-विहार का मार्ग भी था। अब वह सिर्फ़ चकला रह गया है। शाम के समय उस मुहल्ले में कोई कितने ही पवित्र उद्देश्य से जाय, उसे कलंक का टीका लग ही जायगा। मुफ्त में बदनामी उठानी पड़ती है। आजकल वहाँ ज़्यादा वेश्याएँ नहीं हैं। लेकिन मुहल्ले का नाम वही बना हुआ है। वहाँ हो आने वाले को 'बुरुजनहट्टी का मन्मथ' कहकर चिढ़ाते हैं। तब दिन का वक्त था, इसलिए मैं बेधड़क चिन्नप्पा जी के साथ चला गया।

व्यासराय मठ से तनिक दूर, बाईं ओर मुड़ने पर तीसरा मकान ही पुट्टतायम्मा का घर है। उस गली में पैर रखना ही दुशवार हो गया। आस-पास के चार-पाँच घरों के गंदे पानी से गली में कीचड़ होगया था। गली के दोनों किनारे, बच्चों की टट्टी से भरे थे। इन सब से बचकर चलना रस्से पर खड़े होकर कसरत करने के बराबर हो गया।

"बड़ी गंदी जगह है चिन्नप्पा जी; पता नहीं, लोग यहाँ कैसे चलते-फिरते हैं!' मैंने कहा।

"कैसे का क्या मतलब? वे आते हैं, अंधे होकर। गली देखने थोड़े ही आते हैं? उन्हें अपने काम से काम, बस।"

"यह स्थान भी इस पेशे की तरह ही गंदा है। न जाने कब इस वृत्ति का अन्त होगा?"

"आप भी कैसे हैं, साहब! क्या ये अपनी खुशी से यह धंधा करती हैं? नहीं। पेट के ख़ातिर ही यह सब खेल खेला जाता है। ये यहाँ रहकर जो करती हैं, वह एक धंधा है; एक रोज़गार है। घर-गृहस्थी में रहकर भी जो लोग इसे करते हैं, वह व्यभिचार है।

जब तक होटलों में जाकर चटपटी चीज़ें खाने का चसका बना रहेगा, तब तक होटलों का भी अंत नहीं होगा। यह भी ठीक ऐसा ही मामला है। धनवान इसे विलास समझते हैं और हम जैसे भुक्खड़ जिनके लिए दूसरा कोई रास्ता नहीं, यहाँ चले आते हैं। क्यों, मेरा कहना ठीक है या नहीं? शादी-ब्याह कर, घर-गृहस्थी बसाने की ताक़त, हम जैसों में नहीं होती। तब ऐसे लोग और क्या करें? दूसरों की घर-गृहस्थी बरबाद करने की अपेक्षा, यहाँ चले आना, क्या ठीक नहीं है? आप मेरी ही बात ले लें। जब तक ग़रीबी रहेगी तब तक यह पेशा भी बना रहेगा।"

चिन्नप्पा जी की बातें सही थीं। क्योंकि हम पुट्टतायम्मा के घर के समीप पहुँच चुके थे, इसलिए मैं चुप हो गया। इस बात को और बढ़ाने की कोशिश नहीं की। उनके घर का दरवाज़ा अंदर से बंद था। जब चिन्नप्पा जी ने उसे खटखटाया तो किसी ने आकर दरवाज़ा खोल दिया। हम दोनों अन्दर चले गये। सामने छोटा-सा दालान था। मुझे लगा कि हम किसी कबूतर-ख़ाने में घुस आये हैं। वहाँ जो पाँच-सात औरतें बैठी थीं, हमें देखकर जल्दी से किसी कमरे में भाग गईं। एक बुढ़िया ने, जो बैठी हुई पान चबा रही थी, हम दोनों को देखकर कहा—'कहो चिन्नप्पा, अबकी बार बहुत दिनों बाद आये और वह भी दिन के समय? दोस्त को भी साथ ले आये हो। दो-एक बिलकुल नई चिड़ियाएँ आई हैं। बुलाऊँ क्या? लेकिन हाँ, दाम में अगर-मगर नहीं होगा। बोलो........?'

"तुम्हें तो हमेशा उसी की जल्दी लगी रहती है। इस समय हम उसके लिए नहीं आये हैं।'

"कैसे मर्द हो जी तुम? फिर किस लिए आये हो, क्या यों ही देखकर खुश होने के लिए?"

"लो, अपनी ही सुनाए जा रही है। मैं पूछता हूँ, पुट्टतायम्मा कहाँ गई?"

"जायगी कहाँ, अन्दर ही कहीं सोई होगी।"

"ज़रा उनसे मिलना है। ये मेरे दोस्त चन्द्रासानी की कहानी सुनना चाहते हैं।"

"बस, इतना ही?" उस बुढ़िया की आवाज़ में निराशा भरी हुई थी "जो हैं, उनकी सुध नहीं लेते और जो नहीं हैं उनकी कहानी सुनना चाहते हैं। क्या ज़माना........! वह उस कोनेवाली कोठरी में लेटी है, जाइये।"

हम दोनों, दालान पार कर पुट्टतायम्मा के कमरे में पहुँचे। दिन का समय होने पर भी कमरे में अँधेरा छाया हुआ था। दरवाज़ा खुलने कि आहट पाकर वह बोल उठी—'कौन है?'

"मैं हूँ दादी, चिन्नप्पा।"

"ओ! तुम हो क्या! आ जाओ, अंदर आ जाओ! कहो अच्छे तो हो? बहुत दिनों बाद आये?"

"हाँ, ठीक हूँ दादी। मेरे ये दोस्त मुझे ढूँढते हुए कुरुमरड़ी आ गये थे। कहने लगे कि मुझे वेंकटसुब्बय्या के बारे में कुछ बताओ। अब चन्द्रासानी का वृत्तान्त जानने के लिए तुम्हारे पास ले आया हूँ।"

"हाँ, हाँ, ज़रूर। बड़ी खुशी हुई इन्हें देखकर।"

"अरे, तुमने तो चारपाई पकड़ ली है दादी!"

" बस, अब और क्या है भैया ? मीआद तो पूरी हो चली है। सिर्फ़ पड़ी-पड़ी दिन गिन रही हूँ। चल फिर भी नहीं सकती। शरीर के जोड़ ऐसे अकड़ गये हैं कि खुलने का नाम तक नहीं लेते। खैर, यहाँ तुम बैठोगे कैसे ? इन्हें इस नरक में क्यों ले आये ! तुम्हीं कह सुनाते।"

" दादी, यह मनुष्यों का बनाया हुआ नरक है। अब अगर इसे मनुष्य ही नहीं देखेंगे तो क्या पेड़-पौधे देखेंगे ? देखने दो इन्हें भी। हर्ज़ क्या है ? मैंने इन्हें पहले ही समझा दिया था। ये खुद अपनी इच्छा से यहाँ आये हैं। तुम किसी बात की चिन्ता न करो।"

" ये ठीक कह रहे हैं, पुट्टतायम्मा। तुम और कुछ भी विचार न करो। कोई काम करना है, तो हमें ही सामनेवाले के पास जाना पड़ेगा। उसे तो अपने पास बुलाने से रहे। कुछ भी हो, मैं आपको ज़रूर तकलीफ़ देने आ पहुँचा हूँ।"

" तकलीफ़ कैसी, बाबूजी ! कोई बात बतलाने में भी तकलीफ़ हो सकती है ? यह तो हमारी खुशनसीबी है कि आप जैसे बड़े आदमी इस ग़रीबख़ाने तक पधारे हैं।"

" ना, ना, ऐसी कोई बात नहीं है। अगर आपकी तबीयत ठीक न हो तो कहिये, मैं फिर कभी हाज़िर हो जाऊँ ? आप से जान-पहचान नहीं थी, इसलिए चिन्नप्पा जी के साथ आ गया था।"

" बाबू जी, बुरा न मानें, आप जैसे सज्जनों को यहाँ नहीं आना चाहिए। क्योंकि कुछ कमीने लोग बेहूदा बातें करने लग जाते हैं। वे नाहक आप को बदनाम कर देंगे। ये आज-कल की छोकरियाँ भी बस ऐसी ही हैं। ज़रा भी नहीं समझतीं। जबतक ये न बुलाएँ, तब

तक परे ही रहना चाहिए। मर्दों को देखतीं हैं तो बस, उन पर भूखी लोमड़ियों की तरह झपट पड़ती हैं। हालाँकि इसमें इन बेचारियों का भी कोई दोष नहीं है। रोटी की चिन्ता किसे बेशर्म नहीं बना देती इसी लिए मैंने कहा कि आप जैसे जवान आदमियों को ज़रा बचकर रहना चाहिए......।"

चिन्नप्पा जी बीच में बोल पड़े—"ख़ैर, रहने दो इन बातों को दादी........।"

"अच्छा, तुम्हीं बताओ, क्या मैं झूठ बोल रही हूँ? क्या आजकल की ये लड़कियाँ, पेशे की क़द्र जानती हैं? बिलकुल नहीं। एकदम फूहड़ हैं। हमेशा इसी ताक में रहती हैं कि कोई आ जाय—कुछ हाथ लग जाय। हमारे दिनों में ऐसी बेहयाई बिलकुल नहीं थी।"

"ठीक है दादी। तुम्हारे ज़माने में इज्ज़त थी, क़द्र थी। उस समय ऐसे मेहरबान लोग थे, जो पूरी तरह खाना-ख़र्च देते थे। मगर अब क्या है? चवन्नी देकर चलते बनते हैं और जाते-जाते—'साली, हरामख़ोर!' आदि गालियाँ देते जाते हैं। यह सब समय का फेर है, और कुछ नहीं।" चिन्नप्पा जी ने कटुता के साथ कहा।

"तुम ठीक कहते हो भैया। हमारे दिन कुछ और ही थे। शादी न करने पर भी हम किसी एक की होकर, बीबी से ज्यादा वफ़ादारी रखती थीं। मालिक भी दिलदार होते थे। अब क्या है? सैकड़ों की ख़िदमत करती हैं, तब भी रोटी के लाले पड़े रहते हैं। पैसा दुर्लभ हो गया है। यह न जीना है, न मरना ही।" पुट्टतायम्मा ने लम्बी साँस छोड़ते हुए कहा।

"अच्छा, अब छोड़ो यह पचड़ा। ये बातें फिर कभी की जा

सकत हैं। ये बेचारे कल से भूखे-प्यासे हैं। न नींद, न आराम, कुछ नहीं। अब तो चन्द्रासानी की कहानी सुनाओ।"

"क्यों, ऐसी क्या जल्दी है?"

चिन्नप्पा जी ने मेरे कुरुमरड़ी जाने, दिन भर भूखे-प्यासे रहने और रातभर जागने का पूरा वृत्तान्त कह सुनाया।

"अरर! तुमने पहले ही क्यों नहीं कहा? कमसे कम दूध तो मँगवा लेती!" कहते हुए किसी को ज़ोर से आवाज़ दी "अरी लक्की! री लक्की.........सुनती हो?"

एक-दो मिनट बाद लक्कव्वा आ गई। उसे अपने पास बुलाकर कहा—"जा इनके लिए दूध गरम कर ले आ। दोनों ही भूखे-प्यासे हैं। कल से सोए भी नहीं हैं। पूर्वजों का नाम सुनकर यहाँ आये हैं। कहीं यह न सोचें कि चन्द्रा के वंशजों ने हमें पानी पीने के लिए भी नहीं पूछा।"

अपने पूर्वजों के सम्बन्ध में पुट्टतायम्मा की यह श्रद्धा देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। सहसा मुझे लिंगा जोशी की याद आ गई—कितना उपेक्षापूर्ण व्यवहार था उनका! हम सभ्य समाजवाले जिन्हें पतित समझते हैं, उन में कितनी सहृदयता होती है! मैं मन ही मन उनके सामने नत-मस्तक हो गया। वे कुछ देर तक चिन्नप्पा जी के साथ इधर-उधर की बातें करती रहीं। इसी बीच लक्कव्वा दूध ले आई। जब हम दोनों दूध पी चुके, तब पुट्टतायम्मा ने चंद्रासानी की कहानी शुरू की।

...दस

"संगीत के मतवाले वेंकटसुब्बय्या जी, चन्द्रासानी के मतवाले बन गये। आपको, स्वामी जी के शिष्य से पराजित होने की बात, चिन्नप्पा जी पहले ही बतला चुके हैं। उस घटना से उनकी आँख खुल चुकी थी। बस, उसी दिन से उन्हें एक राग साधने की धुन सवार हो गई। धुन क्या, वह पूरा पागलपन ही था। जिस प्रकार पुराने ज़माने में भक्त लोग भगवान को प्राप्त करने के लिए घोर तपस्या किया करते थे, उसी प्रकार वेंकटसुब्बय्या जी राग की आराधना में लग गये। अपनी पराजय के बाद उन्होंने यह प्रण कर लिया था कि जब तक किसी राग को सिद्ध न कर लूँगा, तब तक तानपूरे को हाथ नहीं लगाऊँगा। इस प्रकार वह कठिन साधना शुरू हुई—दिन रात उसी में डूबे रहते। उन्होंने संगीत शास्त्र का गहरा अध्ययन किया। इससे उन्हें रागों के देवताओं के विषय में ज्ञान होगया। अब वे राग का समय, घड़ी आदि जानकर किसी एकांत स्थान में जा बैठते और उसका ध्यान करने लग जाते। एक दिन उन्हें भैरवी राग की उपासना करने का विचार आया। भैरवी, रात के अन्तिम प्रहर का राग है। उसे सूर्योदय से पहले गाया जाता है। कहते हैं कि उस समय गाने पर ही उस राग की सिद्धि होती है। एक दिन, बड़े

सवेरे उठकर भैरवी की उपासना करने के लिए, वेंकटसुब्बय्या रात होते ही घर से निकलकर केशव जी के मन्दिर में चले गये। लेकिन उस धुन में उन्हें ज़रा भी नींद नहीं आई। यों ही पड़े-पड़े करवटें बदलते रहे। जब साधना का समय निकट आ गया तो उठ बैठे। मन्दिर के पासवाले कुएँ में हाथ-मुँह धोए और एक कचनार के वृक्ष तले आसन जमाकर, मन में राग के स्वरूप का ध्यान करते हुए मुहूर्त की प्रतीक्षा में बैठ गये।

"वेंकटसुब्बय्या जी सब कुछ भूलकर, आँखें मूँदे, राग के ध्यान में लीन थे। उसी समय उन्हें, पास के कुएँ से किसी भयातुर नारी का चीत्कार सुनाई दिया। वे तुरन्त उस ओर दौड़ पड़े। कोई स्त्री कुएँ में गिर पड़ी थी। वेंकटसुब्बय्या जी ने ज़रा भी आगा-पीछा नहीं देखा। वे तुरन्त कुएँ में कूद पड़े और उस डूबती हुई स्त्री को किनारे पर उठा लाये। वह बेहोश हो चुकी थी। कुएँ की सीढ़ियों पर, एक किनारे, एक साड़ी और हलदी-कुंकुम की दो छोटी-छोटी कटोरियाँ रखी हुई थीं। उन्हें देखकर वेंकटसुब्बय्या जी समझ गये कि यह स्त्री संभवतः माघ स्नान करने आई होगी और पाँव फिसल जाने से कुएँ में गिर पड़ी। उन्होंने उस स्त्री को वहाँ से उठाकर पास के मंडप में लिटा दिया। कुएँ में डूबने के कारण उस स्त्री के पेट में पानी चला गया था। अतः उसे औंधे मुँह लिटा, पेट मसलकर सारा पानी बाहर निकाल दिया। फिर उसके शरीर में गरमी लाने के लिए, पास के अलाव से गरम-गरम राख ले मलने लगे।

"जब उसके शरीर में ज़रा उष्णता आई, तब उन्होंने उसकी गीली साड़ी हटाकर उसे सूखी साड़ी ओढ़ा दी और वहीं पास में बैठ गये।

"उसके प्राण बचाने की हड़बड़ी में उन्हें इतना भी ध्यान नहीं रहा कि वह एक स्त्री है। जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि अब वह ख़तरे से मुक्त है, तभी उन्हें ख्याल आया कि जिसकी उन्होंने रक्षा की, वह कोई स्त्री है।

"उस समम वेंकटसुब्बय्या जी की उम्र यही कोई चौबीस-पच्चीस की रही होगी। वे पूरी बहार में थे। लेकिन तब तक वे शायद स्त्री के मातृ-रूप को छोड़कर अन्य रूपों से परिचित नहीं थे। कहते हैं कि जब वे अपने गुरु सदानन्द बुवा के साथ रहते थे, तब एक बार किसी नवयुवती की ओर आकर्षित हो गये थे। किन्तु इस बात को लेकर जब बुवा ने उन्हें खूब फटकारा तो उस दिन से उन्होंने स्त्री का ख्याल ही छोड़ दिया। बस, वे सिर्फ़ संगीत-साधना में ही डूबे रहते। इसलिए इन बातों की ओर उनका ध्यान ही नहीं जा पाता था। लेकिन उस दिन, जीवन में पहली बार उन्हें आवरण-हीन स्त्री-सौंदर्य देखने को मिला। अनायास ही उनकी दृष्टि उस रूप-राशि पर जा पड़ी, जो एक महीन साड़ी से ढँकी हुई सिमटी पड़ी थी। आँखें बन्द किये बेसुध पड़ी हुई, उस रूप-ज्वाला को देखकर उनके शरीर में बिजली-सी दौड़ गई। बड़ी कठिनाई के साथ साँस लेने के कारण, उस तरुणी के उन्नत उरोज ऊपर-नीचे हो रहे थे। वेंकट-सुब्बय्या विह्वल हो उठे, मानो अग्नि-स्पर्श हो गया हो। उनके हृदय के कोने में छिपा हुआ कोई प्रबल भाव, पहाड़ी नाले की तरह उमड़ पड़ा। अपने सामने झरते हुए उस सौंदर्य-निर्झर में, अपने आप को बहा देने की प्रचण्ड कामना उनमें जाग उठी। उस विचार के आते ही उनका शरीर जलने लगा और नसें तन गईं।

"किन्तु दूसरे ही क्षण उनके विवेक ने आगे आकर कहा—'छि! यह पाप-मय विचार है। पर-स्त्री के विषय में ऐसी कुत्सित भावना रखना उचित नहीं। क्या पता यह किस घर की लक्ष्मी है। पहले उसे जीवन-दान देकर, अब पापपूर्ण दृष्टि से देखना, यह तुम्हारी नीचता है!'......वेंकटसुब्बय्या जी तुरंत वहाँ से उठकर खुली हवा में चले गये। उनमें पुनः उस ओर देखने का साहस नहीं हुआ। बिगड़ैल घोड़े की तरह भागनेवाले मन को फिर से संयम की ज़ंजीर से जकड़ते हुए वे 'स्त्री' को भुलाने का प्रयत्न करने लगे।

"थोड़ी देर बाद उस स्त्री के हिलने-डुलने की आहट मिली। वे निरन्तर यही सोच रहे थे—'अब वह क्या कर रही होगी?' इसी तरह दस मिनट और बीत गये। फिर उसके उठकर चलने-फिरने की आवाज़ सुनाई पड़ी। वेंकटसुब्बय्या जी ने ज़ोर से आँखें बन्द कर लीं। उसी समय वह सीढ़ियों से उतरी और उनके पास आकर बोली—"आज आपने मेरी जान बचाई है। मैं आपका उपकार जीवन भर नहीं भूलूँगी।" उस स्त्री ने उनके चरणों पर सिर टिकाते हुए कहा। वेंकटसुब्बय्या जी ने बलपूर्वक आँखें खोलकर देखा।

"उषाकाल की लालिमा में, कृतज्ञता से चमकती हुई दो बड़ी-बड़ी आँखें उन्हें ताक रही थीं। पहले उन्होंने कुहरे से भरे मण्डप में उसे देखा था। तब भी वह रूपवती लगी थी। पर अब प्राची की लाली से उसकी आभा और बढ़ गई थी। उसका सौन्दर्य अधिक निखर उठा था। यद्यपि वह शिथिल और क्लान्त-सी थी, फिर भी उसके यौवन का स्वाभाविक सौन्दर्य बरबस उनकी आँखों को अपनी ओर खींच रहा था। उस सौन्दर्य-प्रतिमा के सामने वे गूँगे बन गये।

किन्तु पुनः सँभलकर बोले—"मैं कहाँ हूँ आपको बचाने वाला ? आपके प्राण तो भगवान ने ही बचाए हैं।"

"हाँ, आपके रूप में आकर।"

"आपको इतने सवेरे और वह भी यों अकेली, यहाँ नहाने के लिए नहीं आना चाहिए।" वेंकटसुब्बय्या जी ने दूसरी ओर देखते हुए कहा।

"जी, मैं तो प्रतिदिन यहाँ माघ-स्नान के लिए आती हूँ। लेकिन आज पूरब की आभा ने मुझे धोखा दे दिया। समय का ठीक-ठीक पता न चलने से जल्दी चली आई। अँधेरा अधिक था, अतः पाँव फिसल गया।"

"वेंकटसुब्बय्या जी का मन उसकी बातें सुनने की अपेक्षा उन बातों की मिठास में ज्यादा डूबा हुआ था। उसने जो कहा, वह उन्होंने नहीं सुना फिर भी उन्होंने 'हाँ, ठीक है' कह दिया।

"यह मेरा सौभाग्य था कि आप यहीं थे......नहीं तो......।"

"खैर, अब आप ज्यादा देर तक इस खुली हवा में न रहें, जल्दी से घर चली जायँ। चलिये आपको कुछ दूर तक छोड़ आऊँ।"

"जी, बहुत आभार है आपका; मैं अकेली ही चली जाऊँगी। आपको क्यों कष्ट दूँ। जान पड़ता है, आप कुछ सोचने में व्यस्त हैं।

"जी........हाँ।"

"मैं आपके चिन्तन में बाधा नहीं डालना चाहती। अब मुझे आज्ञा है?" कहते हुए उसने फिर वेंकटसुब्बय्या जी के चरण छुए। उसके हाथों का स्पर्श होते ही वेंकटसुब्बय्या जी का शरीर कर्पूर की तरह जल उठा। उन्होंने अनुमति दी—"अच्छी बात है, अब आप जायँ।"

" वह अपरिचित स्त्री गीली साड़ी और हलदी-कुंकुम की कटोरियाँ लेकर वहाँ से धीरे-धीरे चल पड़ी। तनिक दूर निकल जाने पर वेंकट-सुब्बय्या जी उसे निहारने लगे। उसकी खुली केशराशि कमर तक फैलकर, उस देह-लता की गति के ताल पर नृत्य कर रही थी। जिस समय वह आँखों से ओझल होने लगी, उस समय उन्हें याद आया कि मैंने उसका पता-ठिकाना तो दूर, नाम तक नहीं पूछा है! इस ख्याल के आते ही उन्होंने ज़ोर से ताली पीटकर उसका ध्यान आकर्षित किया और जल्दी से उसकी तरफ़ बढ़ गये।

" वह रुक तो गई, किन्तु उन्हें तेज़ी से आते देखा तो उसकी आँखों में एक संशय, कोई अज्ञात भीति छा गई।

" क्षमा कीजिए, उस समय मैं किसी और विचार में डूबा हुआ था इसलिए आपका शुभ नाम तक नहीं पूछ सका।"

" प्रश्न और उसका ढंग देखकर उस तरुणी की आँखों में जो संदेह की छाया झलक रही थी, वह मिट गई। उनमें मंदहास फैल गया।

" जी, मेरा नाम चन्द्रा है। और......मैं आपके नाम से भी खूब परिचित हूँ। आपकी बहुत प्रशंसा सुन रखी है।"

" क्या नाम बताया आपने?" वेंकटसुब्बय्या जी ने फिर पूछा।

" चन्द्रासानी।" नाम बतलाते हुए वह शरमा गई। उस समय उसके चेहरे पर ललाई फैल गई थी। उस नाम को सुनकर वेंकट-सुब्बय्या जी भी गूँगे की तरह खड़े रह गये।

" अच्छा, अब मुझे आज्ञा दीजिए........मैं चलती हूँ।" कहकर उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वह चल पड़ी। थोड़ी दूर जाने के बाद उसने एक बार मुड़कर देखा। वेंकटसुब्बय्या जी ज्यों

के त्यों खड़े थे, मानो उनके पाँव वहीं गड़ गये हों। उनकी दृष्टि चन्द्रा पर गड़ी हुई थी। दुबारा उसने मुड़कर नहीं देखा। वह, भोर के उस सुनहले प्रकाश में, सुन्दर स्वप्न की तरह विलीन हो गई।

"वेंकटसुब्बय्या जी के हृदय की हर धड़कन 'चन्द्रा-चन्द्रा' पुकार रही थी। उनका मन कुएँ के उस पानी की तरह क्षुब्ध था, जिसमें चारों तरफ़ से पत्थर बरस रहे हों।

"उससे पहले उन्होंने चन्द्रासानी को नहीं देखा था। लेकिन वे यह ज़रूर जानते थे कि वेश्याओं में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी चन्द्रा ही है।

"उनकी अब तक की कल्पना, उस सजीव सौन्दर्य के पास भी नहीं पहुँच पाई थी। वे सोचते ही रह गये—"वाह! कैसा सौन्दर्य है! संभवतः वह रूप-लक्ष्मी निरालंकृत हो, इस उषाकाल में माघ-स्नान कर, निष्कलंक, उज्वल और स्वाभाविक सौन्दर्य लिए, मुझे दर्शन देने ही यहाँ आई थी।' इसके बाद उन्हें उसका शरीर स्पर्श करने की बात याद आ गई। इससे उनका रोम-रोम पुलकित और उत्साहित हो उठा। उनका मन उस सौन्दर्य-पुंज की कल्पना कर, उसकी एक और झलक पाने के लिए व्याकुल हो उठा। उनके हृदय के किसी कोने में छिपी-दबी कामना, अब उन्नत और विह्वल हो तृप्ति चाहने लगी।

"उन्होंने अपने उन्मत्त मन को कई तरह से समझाया। लेकिन सब बेकार हुआ। सदानन्द बुवा की चेतावनी भी याद आई। लेकिन वह भी उस रूप की आँधी में पत्ते की तरह उड़ गई। तब उन्होंने संगीत में लगकर इस अनुचित कामना को दबाने की चेष्टा की। किन्तु वह अदम्य आकांक्षा, पानी में पड़े गेंद की तरह पल भर दबकर फिर उभर जाती। उसी द्वन्द्व में दो दिन बीत गये। सौन्दर्य पिपासा

प्रति-पल बढ़ने लगी। उसे भुलाने की लाख कोशिश करने पर भी उनकी आँखें उसी सौन्दर्य को देखती रहतीं।

"अहा! वह कैसी मनोहर है! मानो, हाथी-दाँत की मूर्ति बनाकर उस पर केतकी की कांति और गुलाब का रंग चढ़ा दिया हो। कामना-पुष्प जैसे खिले हुए रसीले होंठ—उन होंठों की ओर इंगित करनेवाली पतली कोमल नासिका—श्वेत कमल पर मँडराते हुए भौंरों-सी चंचल और यौवन रस से छलकती प्यालियों-सी आँखें......!"

बस, यही दृष्य उनकी आँखों के सामने नाचा करता। मन में वही प्यारा, मीठा और भाव-तरंगें जगानेवाला नाम 'चन्द्रा' बना रहता। मानो, इन्हीं दो अक्षरों में, किसी ने समस्त स्वरों का संपूर्ण माधुर्य-रस भर दिया हो। उन्हें लगा, जैसे उसके होंठ रूपी मूँगे के झूले में झूलती हज़ारों राग-रागिनियाँ आमंत्रित कर रही हैं। रोम-रोम में विद्युत-सी गति भर देनेवाले उसके स्पर्श और आलिंगन के बिना जीवित रहना, उन्हें शून्य-सा प्रतीत हुआ। उनके वक्षस्थल में उबलता शोणित, चन्द्रा के निर्मल जल-कुण्ड रूपी वक्षस्थल में, डुबकियाँ लगाने के लिए आतुर हो उठा।

"इस कामना के शिकार वेंकटसुब्बय्या जी, उन्मत्त होकर चार-पाँच दिनों तक पशु के समान इधर-उधर मारे-मारे फिरते रहे। अन्त में एक दिन उनका विवेक पराजित हो गया। तब उनके पैरों ने उन्हें चन्द्रा के घर के सामने पहुँचा दिया।

"चित्रदुर्ग के गणिकागार में चन्द्रा 'रत्नदीप' के समान थी। उसके सौन्दर्य के सम्बन्ध में लोगों ने सैकड़ों कहानियाँ गढ़ रखी थीं। हालाँकि उसे देखने का सौभाग्य कुछ ही लोगों को प्राप्त हुआ था।

वह ड्योढ़ी से बाहर कभी क़दम नहीं रखती; और यदि कभी निकलती भी, तो बहुत ही कम; सो भी रेशमी परदे से ढँकी पालकी में सवार होकर। कभी-कभी हवा के झोंकों से पालकी के परदे ज़रा इधर-उधर हो जाते, तब चन्द्रासानी का चाँद-सा मुखड़ा उसी तरह झलक जाता, जैसे आसमान में बिजली कौंधकर छिप जाती है। वह संगीत और भरत-नाट्य, दोनों में प्रवीण थी। कभी-कभी उसके घर महफ़िल भी हुआ करती, जिसमें नृत्य और संगीत होता। उसमें ऐसे ही व्यक्ति भाग ले सकते थे, जो सौ मोहरें दे सकें, मामूली व्यक्ति नहीं। उसके साथ बातें करना भी आसान नहीं था। वह रेशमी परदे की ओट में बैठकर ही बातें करती। इससे भी अधिक सुख पाने के लिए, उसे एक हज़ार मोहरें नज़र करनी पड़ती थी। लेकिन उसके न चाहने पर, हज़ार क्या, लाख मोहरें देने पर भी वह स्वीकार नहीं करती। इससे अनेक प्रार्थियों को निराश होकर लौट जाना पड़ता।

"चन्द्रासानी विलासिनी होने पर भी ईश्वरानुरागिनी थी। वह प्रति दिन भगवान की पूजा करती और व्रतादि भी रखा करती—पर यह सब, घर में रहकर ही। नगर के लगभग सभी मन्दिरों से उसके यहाँ प्रसाद आया करता। माघ के महीने में वह 'माघ-स्नान' करने केशव-मन्दिर के कुएँ पर जाया करती, सो भी लोगों की दृष्टि से बचकर। अन्य लोगों के पहुँचने से पहले ही वह स्नान कर वापस आ जाती। उसकी साधारण वेश-भूषा के कारण रास्ते में उसे कोई नहीं पहचान पाता। इसी माघ-स्नान के कारण वेंकटसुब्बय्या जी से उसका परिचय हो गया था। उस समय उसकी उम्र बाईस-तेईस की रही होगी। यह उम्र, पूर्णिमा के समान होती है, जिसमें यौवन और

सौन्दर्य पूर्णचन्द्र की भाँति पूरी छटा दिखाते हैं। स्त्री की चुम्बक शक्ति से अपरिचित वेंकटसुब्बय्या जी के मुग्ध नेत्रों के सामने, वह उसी उम्र में आई।

"चन्द्रासानी का निवास-स्थान किसी राजमहल से कम नहीं था। उसके सामने के भाग में एक सुन्दर उद्यान था, जिसके द्वार पर पहरा रहा करता। साधारण लोग उस ओर जाने का साहस भी नहीं कर सकते थे। किन्तु वेंकटसुब्बय्या जी, जो चन्द्रासानी की याद में पागल-से हो रहे थे, वहाँ पहुँच गये। वे बिना हिचकिचाए भवन में प्रवेश करने लगे। उस समय द्वारपाल ने उन्हें टोका—

"कौन हो तुम? कहाँ जा रहे हो?"

"मैं चन्द्रासानी से मिलने आया हूँ; अन्दर हैं क्या?"

"आख़िर आप हैं कौन!"

"मैं....... मैं वेंकटसुब्बय्या हूँ!"

"द्वारपाल इस प्रसिद्ध नाम से भली भाँति परिचित था। अतः वह उन्हें रोकने का साहस न कर सका। केवल इतना ही बोला— "अन्दर दासी है, उससे पूछ लीजिए।"

"वेंकटसुब्बय्या जी पर सौन्दर्य ने जादू कर रखा था। उन्हें धैर्य या शिष्टता का ध्यान कहाँ था, जो किसी दासी से पूछते? वे बिना पूछे ही अन्दर घुस गये और लगे पागल की तरह पुकारने 'चन्द्रा! चन्द्रा!' यह चिल्लाहट सुनकर दो चार दासियाँ दौड़ी आईं और उन्हेंम ना करते हुए बोलीं—'अरे रे, यों हल्ला क्यों करते हो? यह घर है, कोई मेला लगने की जगह नहीं।'

"मैं चन्द्रासानीसे मि लना चाहता हूँ।" वेंकटसुब्बय्या जी ने बड़ी

बेचैनी व्यक्त करते हुए कहा।

" लेकिन अभी उनसे मिलने का समय नहीं है। अगर कुछ कहना है तो हमसे कह दीजिए। हम कह सुनायँगी।"

" आप कह देंगी; क्या मैं खुद नहीं कह सकता?"

" जी, यहाँ ऐसी ही मर्यादा है।"

" क्या तुम उन्हें ठीक तरह बता सकोगी?"

" अवश्य।"

" अच्छा तो उनसे कह दें कि वेंकटसुब्बय्या तुम्हारे पास प्रेम-भिक्षा के लिए आया है।"

" मगर यहाँ प्रेम की भिक्षा नहीं दी जाती—उसकी क़ीमत लगती है—एक हज़ार मोहरें—हैं आपके पास?"

" एक हज़ार मोहरों की बात सुनकर वेंकटसुब्बय्या जी सन्न-से रह गये। उन्हें यह याद नहीं रहा कि जिस चन्द्रा के पीछे वे पागल बने हुए हैं, उस चन्द्रा के घर जाते समय साथ में अशरफ़ियों का एक तोड़ा ले जाना चाहिए। वे मामूली व्यावहारिकता भी भूल बैठे थे। पर जिस समय दासियों के मुँह से धन की बात सुनी, उस समय उनकी दशा उस घोड़े के समान हो गई थी, जो सरपट दौड़ के समय अचानक लगाम खींच लेने पर मुँह के बल गिर पड़ता है। उनका चेहरा उतर गया। दासियाँ शिष्टता का पालन करती हुई, मुँह छिपाकर धीरे-धीरे हँसने लगीं। कुछ क्षणों के लिए वेंकटसुब्बय्या जी निराशा में डूब गये। वे सोचने लगे—'एक हज़ार अशरफ़ियाँ! पर इतना धन कहाँ से मिलेगा। तो क्या इस चाह को समाधि दे दी जाय?' उसी समय उनकी 'अभिलाषा' साहस बन कर बोल उठी—'नहीं, हरगिज़

नहीं। एक हज़ार अशरफ़ियाँ प्राप्त करना कौन बड़ी बात है?'

"हज़ार अशरफ़ियाँ देने पर तो मिल सकता हूँ न?" वेंकटसुब्बय्या जी ने दासियों से पूछा।

"ज़रूर मिल सकते हैं।"

"तो उनसे कह दें, मैं हज़ार अशरफ़ियाँ लेकर आ रहा हूँ।"

"कब?"

"कल शाम तक।"

"इतना कहकर वेंकटसुब्बय्या जी वहाँ से चल पड़े। दासियों को उनकी बातों पर ज़रा भी विश्वास नहीं हुआ। यह, उन्हें एक विनोद-सा लगा, फिर भी उन्होंने चन्द्रासानी को इसकी सूचना दे दी।

"चन्द्रा, मख़मली गद्देवाली हंसाकार शय्या पर लेटी हुई थी, जिस पर हाथीदाँत के बने चित्र जड़े हुए थे। उस समय दासी ने वेंकटसुब्बय्या जी के आने के समाचार दिये। यह सुनते ही वह चौंक कर बोली—'यह किसका नाम लिया तुमने?'

"वेंकटसुब्बय्या जी......।"

"कौन! गायक...........!"

"जी, हाँ।"

"किसलिए आये थे? उन्हें अन्दर क्यों नहीं ले आई!"

"वे बता रहे थे कि मैं प्रेम-भिक्षा के लिए आया हूँ। पर उनके पास एक हज़ार मोहरें नहीं थीं।

"यह क्या कर दिया, अभागिन! क्या वे नाराज़ होकर चले गये!" चन्द्रा ने दुःखी होकर पूछा।

"बेचारी दासी को क्या मालूम था कि कभी वेंकटसुब्बय्या जी ने

चन्द्रासानी के प्राण बचाए थे। इसलिए अपनी स्वामिनी की बातें सुनकर वह भौचक-सी रह गई। उसे कोई उत्तर नहीं सूझा।

"फिर आने के लिए कह गये हैं क्या?" चन्द्रा ने पुनः आतुरता के साथ पूछा।

"हाँ, कल संध्या के समय आने की बात कह गये हैं।"

"कल जब वे आवें तो उन्हें आदर-पूर्वक यहाँ ले आना, चाहे मोहरें लाएँ या न लाएँ?"

"चन्द्रा की बातें सुनकर उस दासी को बड़ा आश्चर्य हुआ। पर अपनी स्वामिनी के इस विचित्र व्यवहार का कारण पूछने का साहस नहीं कर सकी। उसका काम केवल आज्ञा-पालन करना था।

"दासी के चले जाने पर चन्द्रा व्यथा में डूब गई। वह वेंकट-सुब्बय्या जी की काफ़ी प्रशंसा सुन चुकी थी। एक बार मदकरि नायक के निमंत्रण पर वह भी दरबार में गई थी; और वहाँ उनका संगीत सुनकर मुग्ध हो उठी थी। उनकी संगीत-साधना तथा उनके जीवन के सम्बन्ध में उसने हज़ारों कहानियाँ सुन रखी थीं। इसलिए चन्द्रा के मन में उनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। ऐसा महान् कलाकार उसके द्वार पर प्रेम की भीख माँगने आया था—यह सुनकर उसे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। वह सोचने लगी—'संभव है, वे केवल कुशल-क्षेम के समाचार पूछने आये हों और इन दासियों के प्रश्न से नाराज़ होकर चले गये हों! जिसने मुझे डूबने से बचाकर नया जीवन दिया, ऐसे सज्जन के साथ ही ऐसा अनादर का व्यवहार!' यह सोचकर वह बहुत दुःखी हुई। उसे एक और विचार आया—'क्यों न दासी को भेजकर उनसे माफ़ी माँग लूँ; और फिर यहाँ

आने की प्रार्थना करूँ?' किन्तु दूसरे ही क्षण एक अन्य विचार उत्पन्न हुआ—'उन्हें मुझ जैसी स्त्री के घर पर बुलवाना, कहाँ तक ठीक होगा? और यदि न बुलाऊँ तो पता नहीं वे क्या समझ बैठें?'

"इस तरह उलझन में पड़ी चन्द्रा को कोई रास्ता नहीं सूझा। उस समय उसका प्रिय तोता 'चन्द्रा, चन्द्रा' चिल्लाने लगा। उसने रोष में आकर उसे डाँट दिया। अन्त में यह निर्णय कर चुप हो गई कि जब कल शाम को वे आयँगे, तब उनसे क्षमा माँग लूँगी; और यदि वे अपने वायदे के अनुसार नहीं आये तो किसी दासी से बुलवा लूँगी।

"चन्द्रा के घर से निकलकर वेंकटसुब्बय्या जी समस्या का हल खोजने में लग गये। इससे पहले उन्होंने कभी कल्पना तक नहीं की थी कि आकांक्षा और सफलता के बीच, धन का प्रश्न एक दीवार बन सकता है। सोचते-सोचते उन्हें चन्द्रासानी पर भी क्रोध आ जाता—'मैंने उसके प्राण बचाए हैं......आज वह कृतज्ञता भुलाकर एक हज़ार मोहरें माँग रही है!' दूसरे ही क्षण वे सोचने लग जाते—'इसमें उसका क्या दोष है? उसने तो कभी कुछ नहीं माँगा। मोहरों की माँग तो दासियों ने की है।' इसी उधेड़-बुन में उन्हें चन्द्रा की याद आ जाती। उसका सुन्दर चेहरा उन की आँखों में नाच उठता। उसकी याद उनके मन पर यों तैर उठती जैसे पानी पर फूल तैरता है। पर उन्हें फिर एक हज़ार मोहरों का प्रश्न घेर लेता और वे फिर उद्विग्न हो सोचने लग जाते—'पाँच-दस नहीं......सौ दो सौ भी नहीं......पूरी एक हज़ार मोहरें!......ये कहाँ से प्राप्त की जायँ?.....क्यों न माँ के गहने गिरवी रखकर प्रबन्ध कर

लिया जाय ? . . . . . आजकल वह पहनती भी नहीं है . . . . . लेकिन यदि वह कारण पूछ बैठे तब, क्या हो ? . . . नहीं-नहीं, यह निर्लज्जता है . . . अपनी वासना पूरी करने के लिए माँ के गहने गिरवी रख दिये जायँ !—धिक्कार है इस जीवन पर ! !

" इस तरह जब धन की चिन्ता प्रबल हो जाती तो वे अपनी कामना को तिलांजली देने का निश्चय करते । पर दूसरे ही क्षण सोचते—' उस सौन्दर्य की, यह भी कोई क़ीमत है ?—इतनी छोटी-सी बात के लिए डर कर पीछे हट जाऊँ ? ' सोचते-सोचते वे फिर चन्द्रा से मिलने के लिए आतुर हो उठते । चन्द्रा उनके पास होते हुए भी कितनी दूर थी ! लाख सोचने पर भी उन्हें समस्या का हल नहीं सूझा । रात भर करवटें बदलते रहे ।

" सवेरा हो गया, मगर समस्या नहीं सुलझी । तब उन्होंने नगर श्रेष्ठी से एक हज़ार अशरफ़ियाँ लाने का निश्चय किया । उनके प्रति नगर-श्रेष्ठी की बड़ी श्रद्धा थी । साथ ही उन पर पूरा विश्वास भी रखते थे । अतः उठते ही वे उसके घर पहुँच गये । नगर-श्रेष्ठी उन्हें देखकर बड़े प्रसन्न हुए; पर साथ ही उन्हें बड़ा आश्चर्य भी हुआ । क्योंकि वेंकटसुब्बय्या जी कभी किसी के घर नहीं जाते थे । अतः नगर-श्रेष्ठी ने सम्मानपूर्ण शब्दों में उनका अभिवादन किया और उन्हें एक ऊँचे आसन पर बैठाया ।

" विरूपाक्षप्पा जी, मैं एक ज़रूरी काम से आपके पास आया हूँ . . . . । ' वेंकटसुब्बय्या जी ने इतनी उधीरता के साथ यह बात कही, मानो उन्हें बैठने तक की फुरसत नहीं थी ।

" आज्ञा दीजिए, मैं यथा शक्ति उसका अवश्य पालन करूँगा ।

" मुझे एक हज़ार मोहरें चाहिए, दे सकेंगे ? "

" एक हज़ार मोहरों की बात सुनकर नगर-श्रेष्ठी को बड़ा आश्चर्य हुआ । यह कोई मामूली रक़म नहीं थी । इसे ढोने के लिए ही एक आदमी की ज़रूरत पड़ती है । वे विचार करने लगे कि इन्हें ऐसी क्या ज़रूरत पड़ गई है ! वे नहीं चाहते थे कि ना कर दिया जाय । इसलिए ज़रा घुमा-फिराकर बोले—' दे तो सकता हूँ, पर आपको कब चाहिए ? '

" आज शाम को; कहें तो उस समय मैं ही आकर ले जाऊँगा ।

" ऐसा कौन-सा ज़रूरी काम आ गया है ? "

" बस, यह मत पूछिये—आप तो इतना ही बतला दें कि दे सकेंगे या नहीं ? "

" नगर-श्रेष्ठी विरूपाक्षप्पा के लिए हज़ार मोहरें देना कोई बड़ी बात नहीं थी । मगर उनका व्यापारी-मन पशोपेश में पड़ गया । आख़िर दें भी तो किस आधार पर ? सौ-दो सौ की बात होती तो बिना किसी लिखा-पढ़ी के भी दे सकते थे । पर यहाँ तो एक हज़ार मोहरों का मामला था ! यद्यपि उन्हें वेंकटसुब्बय्या जी पर भरोसा था, परन्तु व्यापार और विश्वास का क्या सम्बन्ध ? साथ ही इनकार कर देना भी उचित नहीं था । अतः बहाना बनाते हुए बोले—' न देने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है ! पर आज मेरे पास इतनी बड़ी रक़म नहीं है । हो सका तो किसी दूसरे के पास से प्रबन्ध कर सकता हूँ । लेकिन वहाँ बन्धक का प्रश्न आ जायगा । क्या आप इसके लिए तैयार हैं ?

" मेरे पास ईमानदारी के अलावा और है ही क्या ? मेरी गाढ़ी

कमाई की पूँजी तो सिर्फ़ ‘ संगीत ’ है । लेकिन इसे सम्पत्ति कौन मान सकता है ? अवश्य ही माँ के कुछ गहने हैं, जिन्हें मैं नहीं ला सकता । अपनी पैतृक-सम्पत्ति भी उसकी आज्ञा के बिना नहीं बेच सकता । केवल विश्वास पर ही आप दे सकते हैं। आपका ऋण शीघ्र ही चुका दूँगा ।”

“ अब विरूपाक्षप्पा जी के सामने बड़ी जटिल समस्या आ गई । जिसके पास कुछ न हो, उसे किस आधार पर उधार दिया जाय ? विशेष कर उस परिस्थिति में जब कि उन्होंने संगीत का धन्धा भी छोड़ दिया हो ? अपनी संगीत-कला के बल पर उनके लिए एक हज़ार मोहरें कमाना कोई बड़ी बात नहीं थी । लेकिन वे ऐसा करेंगे—इसका क्या विश्वास ? पर अन्त में उन्हें कहना ही पड़ा—‘ यदि आप बुरा न मानें तो मैं एक बात बताऊँ । मुझे आपके वचन पर पूरा विश्वास है । अगर आप एक शर्त मान लें तो मैं धन का प्रबन्ध कर सकता हूँ ।”

“ आप संकोच क्यों करते हैं, बतलाइये न ? ”

“ इस प्रकार का लेन-देन कोई दूसरा व्यक्ति तो नहीं करता; लेकिन मुझे आप पर पूरा भरोसा है, इसलिए यह नये ढंग का व्यवहार कर रहा हूँ । अभी-अभी आपने कहा कि आपके पास ‘ संगीत ’ ही आपकी सम्पत्ति है । यदि आप इसी को गिरवी रख दें तो मैं ऋण दे सकता हूँ ।

“ इसका मतलब ? ”

“ मतलब यही कि आप अपने प्रिय रागों में से दो राग मेरे पास गिरवी रख दें; और जब तक आप मेरा कर्ज़ न चुका दें, तब

तक उन रागों को कहीं न गावें। इसकी लिखा–पढ़ी हो जानी चाहिए। बतलाइये, स्वीकार है ?"

"नगर–श्रेष्ठी की शर्त सुनते ही वेंकटसुब्बय्या जी का हृदय फट गया। अब तक जिस संगीत को भगवान से ज़्यादा प्रिय मानते रहे, आज उसी को गिरवी रखने का प्रश्न था। किन्तु, उनके सामने न तो कोई और रास्ता ही था और न अधिक सोचने का समय ही। अतः विवश हो, उन्होंने नगर–श्रेष्ठी की बात मान ली। उनके पसंद के दो राग गिरवी रखकर लिखा–पढ़ी कर दी और शाम तक एक हज़ार मोहरें ले जाने की बात पक्की कर वे घर लौट गये।

"एक तरफ़, उन्हें अपना संगीत बन्धक रखना, काँटे की तरह खटक रहा था; दूसरी ओर, ऋण मिल जाने और अपनी आकांक्षा पूरी करने का मार्ग खुल जाने से संतोष हो रहा था।

...ग्यारह

"सन्ध्या-काल ज्यों ज्यों निकट आता गया, त्यों त्यों वेंकटसुब्बय्या जी की अभिलाषा भी तीव्र होती गई। धीरे-धीरे आकाश में लालिमा फैलकर फीकी पड़ गई। अन्धकार ने चारों ओर अपना जाल फैलाना शुरू कर दिया। वेंकटसुब्बय्या जी मोहरों का तोड़ा साथ ले चन्द्रा से मिलने चल पड़े।

"चन्द्रा के घर पहले से उनके स्वागत की तैयारी हो चुकी थी। द्वारपाल ने पिछले दिन की तरह 'आप कौन हैं?' पूछने के बजाय उन्हें बड़े आदर के साथ प्रणाम किया। फिर नम्रतापूर्वक उन्हें आवास के मुख्य द्वार तक साथ ले गया। तब तक दासियाँ भी वहाँ आ पहुँची थीं। उन्होंने भी बड़े आदरपूर्वक उनका स्वागत किया। इसके बाद उन्हें भीतर ले गईं और आसन पर बैठने की प्रार्थना की। किन्तु वेंकटसुब्बय्या जी को न तो उनके स्वागत की ही ज़रूरत थी और न आदर-सत्कार की ही। वे केवल चन्द्रा को देखने के लिए उतावले हो रहे थे। उससे मिलने की तीव्र अभिलाषा उन पर नशा बनकर छा गई थी। उसी नशे में उन्होंने अशरफ़ियों की थैली, दासियों के सामने कूड़े की तरह फेंककर पूछा—'कहाँ है चन्द्रासानी?'

"आप का ही इन्तज़ार कर रही हैं।"

"चलो, मुझे उनके पास पहुँचा दो।"

"ऐसी क्या जल्दी है? पहले स्नान कर लीजिए—पानी तैयार है।"

"नहीं, मुझे स्नान नहीं करना—मुझे कुछ नहीं करना है। पहले यह बताओ, चन्द्रासानी कहाँ है?"

"जी, ऊपर हैं; आप मेरे साथ पधारें।"

"इसकी कोई ज़रूरत नहीं है।"

"वेंकटसुब्बय्या जी में इतना भी धैर्य नहीं था कि वे दासी के साथ जाते! सीढ़ियाँ बिलकुल सामने नज़र आ रही थीं। वे तूफ़ानी रफ्तार से ऊपर चढ़ गये। उस समय ऐसा लगा, मानो पूरा भवन काँप उठा हो।

"वे 'चन्द्रा, चन्द्रा' पुकारते हुए सीधे अन्दर घुस गये। किसी वस्तु की ओर उनका ध्यान नहीं गया—न नृत्यशाला की सजावट की तरफ़ और न नृत्य-मंडप के सामनेवाले कमरे की ओर ही, जिसमें से रेशमी परदे की ओट से दीपक का प्रकाश फैल रहा था। कुछ और भीतर जाने पर, जब उनकी दृष्टि चन्द्रासानी पर पड़ी तो वे बुत बने खड़े रह गये।

"चन्द्रा, पलंग पर बैठी हुई थी; पर उनकी आवाज़ सुनते ही खड़ी हो गई। उस समय वेंकटसुब्बय्या जी को ऐसा लगा, मानो अभी-अभी कोई अप्सरा देव-लोक से पृथ्वी पर उतर आई है। समूचें कमरे में उसकी कांति फैल रही थी। चन्द्रा ने, सलमे-सितारे जड़ी आसमानी रंग की साड़ी पहन रखी थी। उससे मेल खानेवाली धानी रंग की कसी हुई चोली, उसका अंग-सौष्ठव बढ़ा रही थी। दमकते मोतियों की

माला में झिलमिलाता हीरा, चन्द्रा के उज्वल नेत्रों से होड़ लगाता हुआ उसके वक्षस्थल पर क्रीड़ा कर रहा था। उसकी कमर में पद्मराग जड़ित सुन्दर कटि-बन्ध, दीप के समान आलोकित हो रहा था। जूड़े में मोती शोभा दे रहे थे। चन्द्रा सफ़ेद ग़लीचे पर खड़ी ऐसी लग रही थी, मानो हाथीदाँत की बनी रति देवी की मूर्ति खड़ी कर दी गई हो। धूप की सुवास, दीपक के मंजुल प्रकाश के साथ घुलकर, किसी स्वप्न-लोक का-सा वातावरण बना रही थी।

"वेंकटसुब्बय्या जी ने जब प्रथम बार चन्द्रा का निराभरण एवं स्वाभाविक सौन्दर्य देखा था, तभी वे दंग रह गये थे। पर अब वही सौन्दर्य सोलह श्रृंगार से अलंकृत हो जाने पर कामदेव का तीक्ष्णतम बाण बन गया था। चन्द्रा का यह अनुपम रूप उनकी कल्पना के बाहर था। उसका गौर-वर्ण देखकर उनकी आँखें चुँधिया गईं और उन्हें ऐसा लगा, मानो उनकी साँस रुक गई हो।

"वेंकटसुब्बय्या जी के मुँह से फिर एक बार 'चन्द्रा' शब्द निकला और उनके पैर उसके निकट बढ़ गये। किन्तु वे अब अधिक देर तक अभिलाषा का बोझ न उठा सकने के कारण, चन्द्रा के पैरों पर गिर पड़े।

"उनका भावातिरेक देखकर चन्द्रा घबरा गई। बिखरे हुए बाल, मैले कपड़े और भावावेश से भरा उनका चेहरा देखकर, उसके मन में सहानुभूति उमड़ पड़ी। उसने धीरे से वेंकटसुब्बय्या जी को ऊपर उठाया। पर उनमें खड़े रहने की भी शक्ति नहीं थी। अतः वे चन्द्रा का सहारा लेकर खड़े रहे। उन्होंने कुछ बोलना चाहा, किन्तु प्रयत्न करने पर भी न बोल सके। तब चन्द्रा ने अपनी कोमल

उँगलियों से उनके बिखरे हुए बाल सहलाते हुए पूछा—'क्या दासी के पास, स्वामी इस रूप में आया करते हैं?'

"क्या!" वेंकटसुब्बय्या जी इस ढंग से बोले, मानो उन्होंने कुछ सुना ही न हो।

"आपने यह कैसा रूप बना रखा है?"

"क्यों, कपड़े मैले हैं, इतना ही न!"

"सिर्फ़ कपड़े ही नहीं, ज़रा आईने में अपना मुँह भी देखिए। ये बिखरे हुए बाल, यह उद्रेक—यह सब क्या है?"

"मुझे कुछ पता नहीं। तीन दिनों से तुम्हें देखने की धुन में इस ओर मेरा ख्याल ही नहीं गया। क्या, मुझे इस तरह नहीं आना चाहिए था?" वेंकटसुब्बय्या जी ने अबोध बालक की तरह पूछा। उनके भोलेपन ने, चन्द्रा के हृदय पर जादू का-सा काम किया।

"मैंने ऐसा कब कहा? मेरे स्वामी चाहे जैसे वेश में आवें, मुझे तो प्रिय ही लगेंगे, लेकिन इतना उन्माद क्यों!"

"तुम्हें मालूम नहीं है, चन्द्रा...... मैंने जब से तुम्हें देखा है, तभी से मुझे कुछ हो गया है। मैं अब मनुष्य ही नहीं रह गया हूँ।"

"क्या बन गये अब!"

"तुम्हारे सौन्दर्य का बन्दी, तुम्हारे अनुपम रूप-माधुर्य का दास। बोलो चन्द्रा, मुझे स्वीकार करोगी?"

"धन लेकर आने वालों में से कभी किसी ने उससे ऐसा प्रश्न नहीं किया था। वेंकटसुब्बय्या जी के हृदय की गहराई से निकली हुई प्रणय-याचना ने उसके मन को आलोड़ित कर दिया। उसकी आँखों

में आँसू छलक आये। इस नवीन भावना ने उसके हृदय में उथल-पुथल मचा दी।

"स्वामी, यह क्या? आप मुझ तुच्छ स्त्री से इस तरह याचना करें!" चन्द्रा के ये शब्द भी उसके अन्तःकरण की सरसता से ओत-प्रोत थे।

"याचना के अलावा और कर ही क्या सकता हूँ?"

"यह क्यों?"

"चन्द्रा, तुम सौन्दर्य-सृष्टि की रानी हो। उस दृष्टि से हम सब तुम्हारे दास हैं—भिक्षार्थी हैं। आज मेरा जीवन तुम्हारे हाथों में है।" वेंकटसुब्बय्या जी के हृदय से निकले हुए वास्तविक और स्वाभाविक उद्गार सुनकर चन्द्रा सिहर उठी। उसे ऐसा महसूस हुआ, मानो उसकी छाती से मनुष्य नहीं बल्कि अग्नि-पुंज आ लगा है।

"रहने दीजिए इन बातों को—क्या मैं आपकी नहीं हूँ।"

"वेंकटसुब्बय्या जी ने चन्द्रा को अपने बाहुपाश में जकड़ते हुए जवाब दिया—'हाँ चन्द्रा, तुम सचमुच मेरी हो...बिलकुल मेरी ही—हमेशा के लिए।' ये शब्द उन्होंने कुछ इस ढंग से कहे, जैसे कोई महात्मा परम सत्य का उद्घाटन कर रहा हो।

"इस बात को और आगे बढ़ाने में चन्द्रा को ज़रा घबराहट-सी हुई। अतः उसने बात बदल कर कहा—'अब उठिये। बातों में ही समय बीता जा रहा है। पहले स्नान कर अपने कपड़े बदल लीजिए। फिर भोजन के बाद, आराम के साथ बातें करेंगे।'

"मुझे न नहाना-धोना ही है और न खाना-पीना ही।"

"तब क्या करना है?"

"मैं चाहता हूँ कि इसी तरह तुम्हें देखता रहूँ, बस। तुम्हें छोड़ने से मुझे कुछ भय-सा लग रहा है,......।"

"क्यों?"

"मुझे विश्वास नहीं हो रहा है कि ऐसा सौन्दर्य पृथ्वी पर भी हो सकता है। मैं भयभीत हूँ कि तुम्हें आँखों के सामने न रखने पर कहीं देवता लोग इस सौन्दर्य का अपहरण न कर लें। मुझे और कुछ नहीं चाहिए। बस, तुम्हें देखता रहूँ......।"

"चन्द्रा को उनकी बातें बड़ी प्रिय लगीं। वह भी चाहती थी कि इसी तरह एक दूसरे को देखते रहें। लेकिन ऐसा सम्भव था क्या?

"चन्द्रा ने बड़े आग्रह से उन्हें स्नान करवाया और फिर भोजन कराने के बाद उनसे पूछा—"आप मेरा नाच देखेंगे?"

"नहीं, तुम्हारी चंचल आँखें देखने के बाद अब उसकी इच्छा नहीं रही।"

"तब सोया जाय?"

"हाँ।"

"उस दिन चन्द्रा का शयन-कक्ष ऐसा लग रहा था, मानो इन्द्र की क्रीड़ा के लिए सजाया हुआ हो। आबनूस के सुन्दर पलंग पर महीन मच्छरदानी लगी हुई थी और उसके भीतर मुलायम बिछौने पर चाँदनी के समान स्वच्छ चादर बिछी हुई थी। शय्या पर चमेली के फूल बिखरे पड़े थे, जिनका सौरभ वातावरण में मस्ती भर रहा था। एक कोने में काँसे की बनी नारी-प्रतिमा खड़ी थी, जो अंजली में दीप सँजोए, पलंग की ओर जाने का संकेत कर रही थी। दीपक में चन्दन का तेल भरा था, जो प्रकाश के साथ-साथ सुगन्ध भी फैला

रहा था। चन्द्रा ने उन्हें पलंग पर बैठाते हुए कहा—'आप ज़रा आराम कीजिए; मैं तब तक कपड़े बदल कर आती हूँ।' कहती हुई वह पास के कमरे में चली गई। वेंकटसुब्बय्या जी पलंग के किनारे चुपचाप खड़े रहे। उनकी दृष्टि बिछौने पर बिखरे हुए फूलों पर चली गई। पलंग के पास ही खड़ी एक स्वचालित कठपुतली अपने हाथों से धीरे-धीरे पंखा झल रही थी। उसकी हवा से फूलों की मीठी-सुगंध चारों ओर फैल रही थी। सहसा उन्होंने एक फूल उठाकर देखा। बड़ा ही कोमल और सुरभित था वह फूल! वे उसकी कोमल पँखुड़ियाँ सहलाने लगे। उस समय उनके हृदय में एक विचित्र प्रकार का भाव जाग उठा। वे सोचने लगे—'किसी के भोग-विलास के लिए, इनके जीवन का बलिदान! इनकी सुन्दरता, कोमलता और सुगन्ध—क्या हमारे शरीर की गरमी से झुलस कर नष्ट नहीं हो जायँगी? उफ़! यह कैसी निष्ठुरता है! इन विचारों से उनका मन व्यथित हो उठा। वे एक-एक कर सभी फूलों को बड़ी सावधानी के साथ चुनने लगे, मानो ज़ोर से छूने पर शायद वे रो पड़ें।

"चन्द्रा तब तक कपड़े बदलकर आ गई थी और खड़ी-खड़ी उनका यह कार्य देख रही थी। पर अधिक समय तक न देख सकी। तब उसने पूछा—"लेटना छोड़ आप यह क्या कर रहे हैं?"

"वेंकटसुब्बय्या जी ने एक बार उसकी तरफ़ सिर घुमाकर देखा। उनकी आँखों में आँसू भर आये थे। यह देखकर चन्द्रा बड़े आश्चर्य में पड़ गई।

"आपकी आँखों में आँसू........?"

"बिछौने पर फूलों को देखकर मैं व्यथित हो गया।"

"उनके इस उत्तर से उसे और आश्चर्य हुआ। उसने साहस बटोर कर पूछा—'क्यों?'

"चन्द्रा, इनका जीवन किसी देवता के मस्तक पर चढ़ने या किसी सुन्दरी की वेणी में गुँथे जाने के लिए है। क्या ऐसी वस्तु को हम भोग-विलास में नष्ट कर दें? अनर्थ है यह! ज़रा तुम्हीं सोचो कि इन्हें कितनी पीड़ा पहुँचती होगी! क्या, तुम हर रोज़ इन्हें इसी तरह दुःख दिया करती हो? चन्द्रा, इन कोमल फूलों को न सताया करो।

"सिर्फ़ इसी कारण आपकी आँखें भर आई थीं!"

"भला, तुम्हें दुःख नहीं होता? ये फूल, नन्हें बच्चों की तरह कोमल होते हैं। इन्हें प्रेम करना चाहिए, न कि यों कुचल देना।"

"अच्छा, भविष्य में ऐसा ही होगा। अब आप रहने दें। मैं इन्हें चुन लेती हूँ।" कहकर चन्द्रा ने सब फूल समेट लिए। फिर उन्हें एक किनारे रखकर बोली—"अच्छा, अब तो लेट जाइए!"

"वेंकटसुब्बय्या जी उसे एकटक देख रहे थे। उसने साँप की केंचुली से भी महीन, रेशमी सफ़ेद साड़ी और सफ़ेद चोली पहन रखी थी, जो खूब फ़ब रही थी। शरीर पर कोई गहना नहीं था। सिर्फ़ गले में मोतियों का एक हार पड़ा था, जो दमक रहा था। वेणी में चमेली के फूलों का गजरा लगा था और शरीर पर चन्दन की सुवास। उनकी दृष्टि, संगमरमर की मूर्ति के समान खड़ी उस श्वेतवसना चन्द्रा पर ही जमी हुई थीं। उसकी धनुषाकार भौंहें, चमकती हुई कजरारी चंचल आँखें और गुलाबी होंठ—वे देखते ही रहे। उन्होंने उसके रेशम जैसे कोमल, घने, काले और लम्बे बालों पर एक बार धीरे से हाथ फिराया। उस समय फिर उनकी आँखें सजल हो उठीं।

"फिर आँसू ?"

"हाँ चन्द्रा, अपनी कठोरता पर।"

"क्यों, आपने क्या किया ?"

"देखो न, उस समय फूलों के मसले जाने की बात सोचकर दुःख कर रहा था; अब...मैं देखता हूँ कि तुम भी तो एक फूल ही हो। तुम्हें कैसे मसल डालूँ ? मैं बड़ा नीच हूँ चन्द्रा; एक खूँख्वार जानवर! कामुकता से अन्धा हो गया था। अच्छा, चलो तुम निश्चिन्त होकर सो जाओ; मैं अब जाता हूँ।" वेंकटसुब्बय्या जी ने दरवाज़े की तरफ़ देखते हुए कहा।

"चन्द्रा के जीवन में ऐसी बातें सुनने का यह पहला ही अवसर था। इनसे उसका मन पसीज गया। उसने क्षण-भर टकटकी बाँधे उन्हें देखा। उस समय उसके मन में कोई अज्ञात पीड़ा, कोई मधुर वेदना जाग उठी। उसने एकाएक उन्हें खींचकर छाती से लगा लिया और फिर कहा—'मेरे नाथ, मुझे चाहकर आपने कोई भूल नहीं की। बल्कि अब मुझे ठुकराकर मेरे प्राण लेने की ग़लती कर रहे हैं। ईश्वर के लिए, जाने का नाम अब फिर न लें।'

"नहीं चन्द्रा, मुझे छोड़ दो—चला जाने दो....। कहीं फिर से मेरी वासना मुझे पशु न बना दे।" वेंकटसुब्बय्या जी ने उसका बाहुपाश छुड़ाते हुए कहा।

"अब आप नहीं जा सकते।" चन्द्रा ने उन्हें अपनी बाँहों में और ज़ोर से कसते हुए कहा।

"ऐसा नहीं होगा चन्द्रा........मुझे मत रोको.....।"

"क्या मैं अपने स्वामी की नज़रों से इतनी जल्दी गिर गई ?"

चन्द्रा सिसकियाँ भर कर बोली—"यह मेरे पूर्वजन्म की पुण्याई थी कि आपके दर्शन हुए। किन्तु अब फिर मेरा पाप शायद जीत गया है। पहले तो आप मुझे अपनाने आये और अब मुँह फेरकर चले जा रहे हैं—यह मेरा पाप नहीं तो और क्या है? आपके दिल में फूलों के लिए जगह है, प्रेम है, दया है; पर मेरे लिए कुछ भी नहीं! आप इस फूल को छूने से पहले ही ठुकरा रहे हैं, ऐसा क्यों?"

"चन्द्रा के आँसुओं ने वेंकटसुब्बय्या जी के निश्चय को शिथिल बना दिया।

"मैं तुम्हें तड़पाने के इरादे से नहीं कह रहा था, चन्द्रा। मैं नहीं जानता था कि मेरी बातों से तुम्हें इतनी ठेस पहुँचेगी। मुझे माफ़ कर दो, चन्द्रा.........।"

"यदि यह सच है तो क्या आप चुम्बन से इसकी पुष्टि कर सकते हैं?" चन्द्रा ने उन्हें अपनी बाँहों में जकड़कर, अपने अधर उनके मुँह के पास ले जाते हुए पूछा।

"आँसू, आँसूओं में—और अधर, अधरों में समा गये। अभिलाषा ने उन दोनों को एक कर दिया।

"आज मेरा जीवन सफल हुआ, चन्द्रा।"

"धन्य तो मैं हुई हूँ नाथ! आप मेरे लाभ की कल्पना भी नहीं कर सकते।"

"नहीं चन्द्रा, कृतार्थ तुम नहीं, बल्कि मैं हुआ हूँ।"

"नहीं, स्वामी! सदा की तरह मैं इसी भ्रम में थी कि आप भी सब की भाँति वासना-ग्रस्त हो यहाँ आये हैं। परन्तु अब मेरा भ्रम दूर हो गया। आज आपने एक विलास-ग्रस्त अन्धी को प्रेम

की आँखें प्रदान की हैं। आज मैं अपना तन, मन और जीवन, सब कुछ आपके अर्पण करती हूँ। मैं आज से सदा के लिए आपकी दासी बनती हूँ।"

"चन्द्रा ने वेंकटसुब्बय्या जी के चरणों की धूल उठाकर उससे अपनी माँग भरी।

"चन्द्रा, क्या मैं सचमुच ऐसा भाग्यवान हूँ!" वेंकटसुब्बय्या जी ने शायद अपने ही भाग्य पर अविश्वास प्रकट करते हुए पूछा।

"शायद आपको एक वेश्या की बातों पर विश्वास नहीं हो रहा है। पर मैं सच कह रही हूँ नाथ, कि मैं आपकी और सिर्फ़ आपकी ही हूँ।"

"सच?"

"मैं अपने सिर की कसम खाकर और एकनाथेश्वरी को साक्षी रखकर कहती हूँ।"

"अच्छा, तो वह खिड़की बन्द कर दो।"

"यह किसलिए?"

"तुमने कहा न कि अब मैं सिर्फ़ तुम्हारी हूँ?"

"हाँ।"

"तो उधर देखो, मेरे साथ-साथ वह चाँद भी तुम्हारे रूप का रसपान कर रहा है। अब तुम्हारी बात झूठ हुई या नहीं? ईर्ष्या मुझ में भी है चन्द्रा। मैं किसी को भी, यहाँ तक कि चन्द्रमा को भी तुम्हारे सौन्दर्य का रसपान नहीं करने दूँगा।" यह बात सुनकर चन्द्रा खिल-खिलाकर हँस पड़ी। उसके हृदय में अपने स्वामी के प्रति जो प्रेम था, अभिमान था, वह और बढ़ गया। उसने धीरे से उनके

अधर चूमकर कहा—'मैंने तो सुना था कि आप सिर्फ़ गायक ही हैं, लेकिन आज पता चला कि आप तो कवि भी हैं।

"वेंकटसुब्बय्या जी उसका आलिंगन करते हुए बोले—'ज़रूर, यह तुम्हारे ही सहवास का फल है।'

"उस दिन से उन दोनों का जीवन एक हो गया।

"चन्द्रा के जीवन की कायापलट हो गई। 'चन्द्रासानी' अब वेंकटसुब्बय्या जी की प्रेयसी 'चन्द्रा' हो गई; और दूसरों के लिए 'चन्द्रम्मा'। उसके बाद उसके घर के दरवाज़े औरों के लिए बन्द हो गये। जो स्त्री किसी दिन वासना की पुतली थी, वही अब वेंकट-सुब्बय्या जी का प्यार पाकर प्रेम-पुजारिन हो गई। उसके लिए वे केवल प्रेमी न होकर, प्रेमी के रूप में आये हुए भगवान थे। वह हर तरह से उनकी सेवा करती रहती थी, फिर भी उसे सेवा से सन्तोष नहीं होता था। उसने अपना तन-मन-धन, सब कुछ उनकी सेवा में लगा दिया। वेंकटसुब्बय्या जी भी अपने आप को उसके हाथों सौंप चुके थे। वे दोनों ही प्रेम में इतने डूब गये, मानो स्वप्निल प्रेमोद्यान के पतिंगे बन गये हों।

"उनका यह प्रेम-सम्बन्ध कुछ समय तक तो गुप्त रहा। मगर धीरे-धीरे नगर भर में इसकी ख़बर फैल गई। इस पर अनेक लोगों ने वेंकटसुब्बय्या जी को समझाया कि यह अच्छी बात नहीं है। चन्द्रासानी से भी कहा गया कि यह तुम्हें शोभा नहीं देता। उसका मज़ाक उड़ाया गया, फ़बतियाँ कसी गईं और यहाँ तक हुआ कि अपमान भी किया गया। किन्तु इन सब बातों का कुछ भी असर नहीं पड़ा।

"यह बात वेंकटसुब्बय्या जी की माता के कानों तक भी पहुँची।

उनकी माँ ने आँसू ढरकाकर समझाया। परन्तु वेंकटसुब्बय्या जी टस-से-मस नहीं हुए। उन्होंने स्पष्ट रूपसे कह दिया—'इस एक विषय में मुझे क्षमा कर दो माँ।' तब उनकी माँ ने चन्द्रा से अलग करने के लिए उनकी शादी कर देने का विचार किया। उन्होंने, इस सम्बन्ध में चर्चा की। दूसरे लोगों से भी कहलवाया। किन्तु वेंकटसुब्बय्या जी ने किसी की बात पर ध्यान नहीं दिया। वे यही कहकर बात टाल देते कि मैं अब विवाहित ही हूँ; और एक के रहते दूसरी को ले आना मुझे पसन्द नहीं है। उनके इस प्रकार के उत्तर से उनकी माँ भी मन मार कर रह गई।

"एक बार जानकम्मा ने अपने भाई से सारी व्यथा कह सुनाई। आँखों में आँसू ला कर बोली—'भैया, किसी तरह हमें इस संकट से छुटकारा दिलाओ। सिर्फ़ एक ही लड़का है और वही ऐसी टेढ़ी राह पकड़ ले, तो मैं कैसे जी सकती हूँ!"

"कुछ दिन और बीतने दो, जानकी। अभी नया-नया मामला है। इस समय हमारी बातें असर नहीं करेंगी। ज्यादा होगा तो समझाने वाले को ही मुँह की खानी पड़ेगी।" अनन्तय्या ने समझाया।

"वेंकटसुब्बय्या जी का प्रणय, अनन्तय्या को असंगत नहीं लगा। क्योंकि, वे भली-भाँति जानते थे कि वेंकटसुब्बय्या जी के जीवन में पहले किसी स्त्री का पदार्पण नहीं हुआ था। संगीत-साधना में लगे रहने से, वे सहज-प्रेम से भी अपरिचित रह गये थे। यह उन पर, पहली बार एक स्त्री का प्रभाव पड़ा था—वह भी चन्द्रासानी जैसी अनुपम सुन्दरी का। उन्हें ऐसा विश्वास था कि कुछ दिनों बाद जब यौवन का उन्माद हलका पड़ जायगा, तब अपने आप उनके होश ठिकाने

आ जायँगे। ज़ोर ज़बरदस्ती या विरोध करने से, यह प्रेम की भावना और भी उग्र रूप धारण कर सकती है—यह तथ्य उनसे छिपा हुआ नहीं था। अतः यह समझकर वे चुप रहे कि यह सब दो दिन का खेल है, इसमें क्यों दख़ल दें। किन्तु जब वेंकटसुब्बय्या जी को विलास में पड़कर संगीत की उपेक्षा करते देखा तो वे बहुत दुःखी हुए।

"उन्हें महसूस हुआ कि वेंकटसुब्बय्या जी अपनी कला को भी कामाग्नि के कुंड में भस्म कर रहे हैं। अतः एक दिन वे भी बोल उठे—'क्यों भाई, संगीत को तिलांजली दे दी है क्या? मैं तुम्हारे प्रेम के बारे में कुछ भी कहना नहीं चाहता। लेकिन इतना ज़रूर याद दिला देना चाहता हूँ कि इस नशे में कहीं संगीत-कला की इति श्री न हो जाय।"

"नहीं मामा जी, ऐसी कोई बात नहीं है। भला संगीत-कला कैसे छोड़ दूँगा?" कहते हुए वेंकटसुब्बय्या जी ने इस विषय को यों ही उड़ा दिया। संगीत का नाम सुनकर उन्हें अपने रागों के बन्धक की बात याद आ गई। वे सोचने लगे कि यह बड़ा अनुचित कार्य हो गया है। पर दूसरे ही क्षण यह सोचकर संतुष्ट हो गये कि जिस चन्द्रा ने मेरे लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया है, उसके लिए दो रागों का गिरवी रख देना, कौन सा बड़ा भारी त्याग है? फिर भी उन्हें छुड़ा लेना ज़रूरी है।

"वेंकटसुब्बय्या जी की ऐसी हालत हो गई थी कि चन्द्रा को देखते ही संगीत-साधना की बात ही भूल जाते। इसी तरह कई महीने और बीत गये।

...बारह

"अब तक वेंकटसुब्बय्या जी ने अपने राग गिरवी रखने की बात किसी को नहीं बतलाई थी। यहाँ तक कि इस विषय को चन्द्रा से भी गुप्त रखा था। पर अनन्तय्या को एक दिन अचानक इसका पता लग गया।

"एक दिन अनन्तय्या बाज़ार जा रहे थे। रास्ते में उन्हें नगर-श्रेष्ठी विरूपाक्षप्पा मिल गये। दोनो में इधर-उधर की बातें होने लगी और बातों ही बातों में वेंकटसुब्बय्या जी का विषय छिड़ गया। तब विरूपाक्षप्पा जी ने बड़ा खेद प्रकट करते हुए कहा—'अनन्तय्या जी, आप मुझे भले ही हज़ार गालियाँ दे लें, लेकिन मैं असलियत नहीं छिपाना चाहता। सच पूछा जाय तो एक तरह से मैं ही उनकी बरबादी का कारण हूँ।"

"उनकी बातें सुनकर अनन्तय्या ने आश्चर्य के साथ पूछा—'क्यों भला, आपने ऐसा क्या किया है?'

"नगर-श्रेष्ठी ने पूरी-पूरी बात बतला दी कि किस तरह वेंकट-सुब्बय्या जी उनके पास अपने दो राग बन्धक रखकर एक हज़ार मोहरें उधार ले गये। फिर खेद प्रगट करते हुए बोले कि यदि मुझे इस बात का ज़रा भी आभास मिलता कि वे किसलिए कर्ज़ ले रहे हैं,

तो मैं उन्हें एक हज़ार मोहरें देने की ग़लती कभी नहीं करता।

"नगर-श्रेष्ठी की बातें सुनकर अनंतय्या को गहरा आघात लगा। किन्तु अपने मनोभाव दबाकर उनसे कहा—'विरूपाक्षप्पा जी, यह बात मुझे बतलाकर आपने बड़ा उपकार किया। परन्तु अब इस विषय को आप गुप्त ही रहने दें। दूसरों के सामने प्रकट न करें। इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करेंगे।'

"अनंतय्या ने भी इस विषय को गुप्त ही रखा, पर उन्होंने यह ठान ली कि जब तक इस मोह-जाल को न तोड़ देंगे तब तक वे दुर्ग से हटने का नाम नहीं लेंगे।

"अब वे दिन-रात इसी उधेड़-बुन में लगे रहे कि किस तरह वेंकटसुब्बय्या जी की बुद्धि पर से परदा हटाया जाय? अन्त में उन्होंने यह उपाय खोज निकाला कि इस काम को चन्द्रासानी के द्वारा ही करवाया जाय। इसलिए एक दिन मौक़ा देखकर वेंकटसुब्बय्या जी को बातों में लगाते हुए बोले—'क्यों भाई वेंकटसुब्बू, आजकल हमें तो कभी याद ही नहीं करते! आठों पहर अपनी रानी की ही याद में डूबे रहते हो!'

"नहीं मामा जी, आप कैसी बात करते हैं! भला मैं आप को भूल जाऊँ? यह बिलकुल असम्भव है। मैं सारी दुनिया को भूल सकता हूँ, किन्तु आपको नहीं भूल सकता। आख़िर आप के अलावा मेरा और है ही कौन?"

"पहले मैं भी यही समझता था। लेकिन आजकल......।"

"क्यों, अब क्या बात है, मामा जी?"

"बात क्या है, कुछ नहीं। नये जल का प्रवाह, पुराना जल

भी बहाकर ले गया है—बस। अच्छा, छोड़ो यह बात। तो मुझे यह बताओ कि आख़िर हमने क्या किया है, जो हमारे साथ ऐसा अन्याय हो रहा है?"

"अन्याय! और आप के साथ! आप ज़रा साफ़-साफ़ कहें मामा जी कि क्या बात है?"

"भाई, क्या बताऊँ! जब तुम बिलकुल छोटे बच्चे थे, तब मैंने तुम्हें गोद में खेलाया है। उस समय से मेरे दिल में ये अरमान थे कि बड़ी धूम-धाम के साथ तुम्हारी शादी करूँ और तुम्हारी गृहस्थी देखकर खुश होऊँ। पर अब तो शायद यह इच्छा पूरी होने से रही। इस विषय में जब कभी पूछता हूँ, तुम यही कहते हो—'नहीं, चन्द्रा के रहते हुए मैं शादी नहीं कर सकता। वही मेरी दुनिया है'—

"अच्छा, हम उसी को बहू मान लेते हैं। तुम जिसे चाहते हो उसी को अपनी पटरानी बनाओ; कोई बात नहीं है। हमें तो बहू से मतलब है। लेकिन तुमने तो मुझे भी कभी उसका मुँह देखने का अवसर नहीं दिया। क्या मैं इस योग्य भी नहीं रहा?' अनन्तय्या ने उलाहना देते हुए कहा।

"ऐसी बात नहीं है मामा जी। अगर आप चाहें तो मैं चन्द्रा को दिखा सकता हूँ। मेरे लिए आप और चन्द्रा, दोनों ही, जीवन के दो प्रकाश स्तम्भ हैं। सच मानिये, मैं स्वयं ही आपको वहाँ ले जाना चाहता था। लेकिन आपसे कुछ कहने की हिम्मत नहीं हुई। अब आप जब चाहें तब आपको ले चलूँगा।"

"अच्छा, तो फिर कब चलें?"

"कल ही चल सकते हैं।"

"चन्द्रा, अनन्तय्या के बारे में काफ़ी सुन चुकी थी। उनके प्रति वेंकटसुब्बय्या जी द्वारा सुनी हुई बातों से उसके मन में गहरी श्रद्धा पैदा हो गई थी। अतः जब अनन्तय्या उसके घर पहुँचे तब उसने बड़े आत्मीयभाव से उनका स्वागत किया। वे उसकी नम्रता और सौहार्द्र पर मुग्ध होकर मन ही मन सोचने लगे—'इन्हीं गुणों के कारण वेंकटसुब्बू इस पर प्राण देता है। उस स्वर्ण-पुष्प पर कौन मुग्ध न हो उठेगा, जिसमें सुगन्ध भी हो! चन्द्रा की सेवा-भावना और मधुर बातों में उन्हें कहीं भी कृत्रिमता नहीं दिखाई पड़ी। उसके उठने-बैठने, बातचीत करने और खिलाने-पिलाने आदि के व्यवहार से उन्हें यह समझने में देर न लगी कि किस तरह उसका जीवन वेंकटसुब्बय्या जी के जीवन के साथ दूध में शक्कर की तरह मिल गया है!

"अब अनन्तय्या के सामने एक नई समस्या खड़ी हो गई। वे इस विचार में पड़ गये कि परस्पर प्रेम-बन्धन से जुड़े इन दो अभिन्न प्राणियों को किसलिए अलग करने का पाप लें? चन्द्रा को यह बात कैसे कहें कि तुम्हारे कारण उनकी संगीत-साधना छूट रही है? उन्हें अपने आप पर कुछ क्रोध आ रहा था कि कहाँ वे इन दो हृदयों का पवित्र प्रेम-बन्धन तोड़ने के लिए आ गये! उन्होंने विधाता को भी खूब कोसा कि उन्हें यह निष्ठुर कर्तव्य निभाने का भार क्यों सौंपा? वे अधिक गंभीर रूप से सोचने लगे—'मैं कसाई बनकर प्रेम का गला क्यों काटूँ! क्यों न इस समस्या को ईश्वर पर छोड़ दूँ? इस प्रेम प्रतिमा को खण्डित करने का पाप अपने सिर क्यों लूँ?......किन्तु......इस कार्य को यदि ईश्वर पर छोड़ दिया गया तो वेंकटसुब्बय्या के भविष्य का क्या होगा? क्या प्रतिमा-लता पर विकसित इस कला-रूपी सुमन को

इसी तरह वासना का कंठहार बना रहने दिया जाय? लोक-रंजन के लिए उत्पन्न रस-गंगा, क्या एक साधारण स्त्री के पीछे सूख जाय?........ नहीं-नहीं, इसे रोकना होगा और रोकना ही होगा—कर्तव्य का यही तकाज़ा है। निस्सन्देह यह बड़ा ही निष्ठुर कार्य है। किन्तु कोई कार्य कितना ही निष्ठुर क्यों न हो, यदि वह कर्तव्य है तो उससे मुँह नहीं मोड़ा जा सकता।'

"इस घटना के चार-पाँच दिनों बाद ही वेंकटसुब्बय्या जी की अनुपस्थिति में अनन्तय्या, चन्द्रा के घर पहुँच गये। चन्द्रा ने उन्हें आदरपूर्वक बैठाते हुए वेंकटसुब्बय्या जी के बारे में बतलाया कि वे घर पर नहीं हैं, पर अब आने ही वाले हैं।

"मैं उससे नहीं, तुमसे ही मिलने आया हूँ।" अनन्तय्या भूमिका बाँधते हुए बैठ गये।

"कहिये, क्या आज्ञा है?" चन्द्रा ने चकित स्वर में पूछा।

"अनन्तय्या ने कोई उत्तर नहीं दिया। सिर्फ़ उसकी तरफ़ देखते रहे। इससे चन्द्रा का हृदय आशंकित हो काँप उठा। पर क्षण भर बाद उन्होंने अपनी बात छेड़ दी—

"चद्रा, वेंकटसुब्बू तुम्हारी आँख का तारा है; वह उसी तरह हमें भी प्रिय है। तुम्हारे दोनों के प्रेम ने अब हमें भी तुम्हारा सगा बना दिया है। क्यों, ठीक है या नहीं?"

"जी, आपका कहना ठीक है। उनके चरण चूमनेवाले धूलिकण भी मेरे लिए मोती हैं। फिर आप तो उनके सगे मामा हैं—पिता के समान पूज्य। अतः आप मेरे सगे ही नहीं, पिता के समान हैं। आप मुझे अपनी ही बेटी समझें और जो कुछ कहना हो निस्संकोच होकर कहें।

" बेटी, सच्ची बात कभी-कभी बड़ी कटु और कठोर होती है। फिर भी, हम जैसे हितैषियों का यह कर्तव्य है कि हित की दृष्टि से उसे कहना ही चाहिए।"

" जी, ठीक है।"

" बेटी, यह मैं खूब जानता हूँ कि तुम दोनों एकदूसरे को बहुत चाहते हो। इस विषय में लोग कुछ भी कहें, लेकिन मैं बहुत प्रसन्न हूँ। वह मेरे पुत्र के समान है तो तुम मेरी पुत्र-वधू के समान। क्योंकि मैं यह जानता हूँ कि तुम मुझे अपना पिता मानती हो। बेटी, मैं इसी विश्वास के बूते पर आज तुमसे कुछ कहने आया हूँ।"

" उनकी इस तरह की बातें, चन्द्रा को किसी अज्ञात दिशा की ओर लिये जा रही थीं। वह भयभीत हरिणी की तरह आँखें फाड़-फाड़ कर उनकी ओर ताक रही थी।

" बेटी, वेंकटसुब्बू के प्रति तुम्हारे मन में असीम अनुराग है। क्यों, है न? ज़रूर है। यह पूछने की ज़रूरत ही नहीं। उसका नाम सुनते ही तुम्हारी आँखें चमक उठती हैं। यही उसका सबसे बड़ा प्रमाण है। किन्तु, चन्द्रा, प्रेम और वासना के बीच अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर होता है। क्या तुमने कभी इस विषय में सोचा है बेटी?"

" जी, नहीं।"

" मैं यह जानता हूँ; सिर्फ़ तुम्हीं नहीं, बल्कि जितने भी प्रणयांध हैं, वे इस विषय पर कभी नहीं सोचते। पानी में डूबनेवाला मनुष्य कभी यह नहीं देखता कि पानी मीठा है या नहीं? इसी तरह प्रेम के सागर में डूबनेवाले भी इस बात पर कभी ध्यान नहीं देते। लेकिन

यह विषय सरलता से समझा जा सकता है।"

"जी, कैसे?"

"बेटी, 'प्रेम' अपने आश्रित का उद्धार करता है। और 'वासना' उसे रसातल में ढकेल देती है। एक में ज्ञान का विकास होता है, तो दूसरे में भुलावा। प्रेम, कली को विकसित कर संसार को उसका सौरभ और सौन्दर्य देता है, और वासना ग्रीष्मकाल की लू की तरह, खिलते हुए पुष्प को झुलसा देती है। अब तुम्हीं सोचो बेटी कि तुम्हारा प्रेम किस कोटि में आता है?"

"मैं तो निरी गँवार हूँ, यह सब क्या जानूँ? आप ही मुझे बतलाइये।"

"बतला दूँ? पर बेटी, अगर मेरी बातें ज्यादा चुभनेवाली हों तो! क्या तुम मुझे माफ़ कर दोगी?"

"चन्द्रा का हृदय काँप रहा था। उसे आशंका हो रही थी कि कहीं कोई नई विपदा न आ जाय। फिर भी उसने स्वीकार कर लिया।

"बेटी चन्द्रा, सम्भव है कि तुम्हारे मन में उसके प्रति प्रेम हो—अनुराग हो। परन्तु उसके मन में तो केवल वासना ही है और वही वासना अब दिनोंदिन उसे गिराती जा रही है। तुम्हारे मोह में पड़कर वह न केवल अपने आपको ही भूल रहा है बल्कि अपने कर्तव्य से भी भ्रष्ट हुआ जा रहा है। एक वह दिन था, जब कि वह 'संगीत' को अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानता था। उसीने यह पथ चुना था। उसके मार्ग में कभी किसी ने रोड़ा नहीं अटकाया। वह अपने पिता का इकलौता लड़का है। उसे मनमानी राह पर चलते देख उसके पिता बेचारे चिन्ता ही चिन्ता में चल बसे। उनकी केवल इतनी

ही इच्छा थी कि वह बड़ा आदमी बने। हम सब उसके नाते-रिश्तेदार हैं। हम भी उसकी उन्नति चाहते थे। किसी ने उससे कुछ नहीं चाहा। उसकी भी, बस, एक ही अभिलाषा थी—संगीत सीखना। किन्तु आज हम सब लोगों की इच्छाएँ उसके विकट मोह की चिता पर पड़ी हैं। तुम्हारे मोह में पड़कर वह सब कुछ भुला बैठा है। यद्यपि मैं जानता हूँ कि तुम उसे पूरी तरह चाहती हो, तथापि कभी तुमने उससे यह पूछा है कि तुम संगीत का अभ्यास कर रहे हो या उसे भी छोड़ दिया है? शायद तुमने यह कभी नहीं पूछा होगा। तुम्हें यह पूछने की ज़रूरत भी क्या थी? अब वह संगीत भी छोड़ बैठा है। यही नहीं, उसकी बरबादी की कहानी और भी आगे बढ़ती है। तुम्हें पाने के लिए उसने एक और नीच काम कर डाला है। शायद तुम्हें भी उस बात का पता न हो।" अनन्तय्या की बातें पल-पल उग्र होती जा रही थीं।

"क्यों? ऐसा क्या कर डाला है?" चन्द्रा ने भयभीत हो रुँधे हुए कंठ से पूछा। सुनसान घर में फैले हुए अन्धकार की भाँति उसके हृदय में भय बढ़ता जा रहा था।

"पहली बार जब वह यहाँ आया तब हज़ार मोहरें लाया था या नहीं?"

"मैंने उनसे थोड़े ही कहा था?"—सहसा चन्द्रा चिढ़कर बोली।

"ठीक है, तुमने नहीं कहा होगा। लेकिन वह लाया तो था न? बेटी, क्या तुम्हें मालूम है कि उसने वे मोहरें कहाँ से और कैसे प्राप्त कीं? नहीं, तुम नहीं जानती। सुनो, मैं बताता हूँ तुम्हें कि वे मोहरें कैसे मिलीं! तुम्हारे ख़ातिर उसने नगर-श्रेष्ठी के पास अपने दो राग गिरवी रखकर एक हज़ार मोहरें प्राप्त कीं। अब हालत

ऐसी है कि वह ज़िन्दगी भर कभी उस ऋण को नहीं चुका सकता। इसलिए अब वह उन दो रागों को कहीं गा भी नहीं सकता। भला, जो संगीत को ही तिलांजली दे चुका हो, उसे उन रागों की क्यों चिन्ता हो? बेटी, अब तुम्हीं बताओ कि इस प्रेम से उसका उत्थान हुआ है या पतन?"

"अनन्तय्या का यह प्रश्न, चन्द्रा को प्रहार-सा लगा। उनकी बातों से उसकी ऐसी हालत हो गई, मानो किसी ने प्रहार करते समय उसे दम लेने का भी समय न दिया हो।

"आप यह क्या कह रहे हैं! क्या उन्होंने सचमुच राग गिरवी रख दिये हैं?" चन्द्रा ने आर्त हो पूछा।

"बेटी, मैं अपने जीवन में अब तक कभी झूठ नहीं बोला हूँ।"

"उन्होंने बहुत बुरा किया...दुःख तो यह है कि कभी मेरे सामने भी इसकी चर्चा नहीं की।"

"तुम्हें पता नहीं है शायद कि आज नगर में किस तरह यह चर्चा फैल रही है। लोग कह रहे हैं कि चन्द्रा ने वेंकटसुब्बय्या को बरबाद कर दिया है। तुम्हें खुश करने के लिए उसने अपने राग गिरवी रखने में भी संकोच नहीं किया। तुम्हारे प्रेम के कारण वह इतना गिर गया है।"

"क्या आप......इन बातों पर विश्वास करते हैं? सच कहिए ....आपको मेरी सौगन्द है........मैं उनके धनकी भूखी नहीं हूँ। मेरे लिए प्रेम ही सब कुछ है। इसके लिए मैं सब कुछ करने को तैयार हूँ। लीजिए........पहले आप उन रागों को छुड़ा लाइये।" यह कहकर चन्द्रा ने अपने गले से मोतियों की

माला और हाथ का हीरों का कंगन निकाल कर अनन्तय्या के चरणों पर रख दिये। फिर बोली.....'जल्दी जाइये.....लेकिन उन्हें इस बात की बिलकुल ख़बर न हो कि मैंने यह क़र्ज़ चुकाया है।"

"अपने चरणों के सम्मुख पड़े गहने—मोतियों की माला और दमकते हीरों का कंगन—देखकर अनन्तय्या को ऐसा लगा, मानो ये गहने नहीं बल्कि चन्द्रा का प्रेम-भरा हृदय है। अपने भक्त के अधःपतन से व्यथित होकर गिराये हुए आँसुओं के मोती हैं। उन्हें गहने छूने की भी इच्छा नहीं हुई। चन्द्रा की उदारता, उसके सच्चे प्रेम की घोषणा कर रही थी। उस समय उन्हें फिर अपनी करनी का ध्यान आ गया। वे सोचने लगे —'हाय! मैं यह कैसा नीच कृत्य कर रहा हूँ! न जाने कितने जन्मों के पुण्य-फल से यह प्रेम की पवित्र मूर्ति बनी है। लोक-भय से मैं क्यों इसे अपने हाथों से तोड़ूँ? क्या इस करतूत से भगवान प्रसन्न हो सकेंगे? संगीत की रक्षा के लिए, उसके अमृत-तुल्य प्रेम में क्यों विष घोल दूँ। क्या संगीत की ही तरह यह प्रेम भी सुन्दर नहीं है? एक सुन्दरता की रक्षा के लिए क्या दूसरी सुन्दरता का गला घोंट दूँ?' इन्हीं भावनाओं के आ जाने से उनका मन दुःख से तिलमिलाने लगा। प्रेम के संहार की बात सोचकर उनकी आँखें भी सजल हो उठीं। परन्तु कर्तव्य ने उन्हें फिर से सावधान किया। बेचारे खून का घूँट पीकर रह गये। फिर सांत्वना के स्वर में बोले—'बेटी, सच तो यह है कि आज मैं भी तुम से कुछ माँगने के लिए आया था। परन्तु धन नहीं......।'

"हाँ-हाँ, बताइये, संकोच क्यों करते हैं? उनकी भलाई के लिए आप जो कुछ भी माँगेंगे, मैं देने के लिए तैयार हूँ।"

"सच कहती हो, बेटी?"

"सूर्य-चन्द्र को साक्षी रखकर कहती हूँ।"

"देखो, बेटी! वचन देकर फिर मत बदलना?"

"नहीं, कभी नहीं।"

"तब ठीक है। बेटी, मैं जाति का ब्राह्मण हूँ। किन्तु आज तक मैंने न तो कभी किसी के सामने हाथ ही फैलाये हैं और न किसी से कुछ लिया ही है। पर आज तुम से ज़रूर माँग रहा हूँ। तुम दान के रूप में वेंकटसुब्बू को मेरी झोली में डालदो—और एक बार दान देकर फिर कभी उसे पाने का प्रयत्न न हो।" अनन्तय्या ने चन्द्रा के सामने अपनी चादर का पल्लू फैलाकर याचना की।

"चन्द्रा पर बिजली टूट पड़ी। उसने दहाड़ मारकर कहा—'हाय! मैं लुट गई! यह आपने क्या माँगा? मेरी ज़िन्दगी हमेशा के लिए सूनी कर दी!'

"बेटी, मैंने उसे अपने लिए नहीं माँगा है। उसीके लिए उसकी भीख माँग रहा हूँ। मैं तुम्हारी व्यथा समझ सकता हूँ; और यह भी जानता हूँ कि तुमसे बिछुड़ने पर उसकी क्या दशा होगी! परन्तु त्याग की भट्ठी में तपे बिना, विरह-वेदना की आग में जले बिना, काम-वासना कभी प्रेम नहीं बन सकती। यों घबराकर मुँह न मोड़ो बेटी! आगे बढ़कर मेरी झोली भर दो!"

"अनन्तय्या ने, जो अब तक बैठे बातचीत कर रहे थे, तुरन्त उठकर अपने दोनों हाथ पसार दिये। अब तक चन्द्रा सिर झुकाये उनकी बातें सुन रही थी, पर अब उसने यों आँखें उठाकर देखा, मानों कोई हरिणी, शिकारी से जीवनदान की याचना कर रही हो। उसकी

आँखों से मोतियों के समान उज्वल आँसू झर रहे थे। ऐसा लग रहा था, मानो वे आँसू सौ-सौ कंठों से, अपनी व्यथित वाणी से पुकारकर कह रहे हों—ऐसा दान माँगकर इसे बरबाद न करो! हृदय में प्रतिक्षण उठने वाले दुःख के ज्वार से वह काँप रही थी। वह अपनी दीन आँखों की मूक भाषा में कह रही थी—'मुझ पर रहम करो, यों तड़पा-तड़पा कर न मारो!'

"अनन्तय्या ने उसके मुँह की तरफ़ देखा। क्षण भर पहले उसका चेहरा वसन्त के प्रभात में खिले हुए फूल के समान था। पर अब वह कुम्हलाकर पीला पड़ गया था। प्रेम-ज्योति से परिपूर्ण, शुक्र-तारक के समान चमकती हुई उसकी आँखें, अब सूर्य-विहीन दिवस के समान आलोक-हीन दिखाई दे रही थीं। इससे पहले उसके होंठ, उस रसीले बिंबा फल के समान थे, जो हलके से नखाघात से भी रस छोड़ देता है; किन्तु अब वे भी सफ़ेद पड़ गये थे।

"चन्द्रा, एक ऐसे अद्वितीय सुन्र चित्र के समान थी, जिसे किसी दिव्य प्रतिभा-सम्पन्न विश्वविख्यात चित्रकार ने बनाया हो। पर अब वह ऐसी हो गई थी, मानो उस सुन्दर चित्र को किसी के कलुषित हाथों ने विदीर्ण कर रख दिया हो। उसकी यह दशा देख अनन्तय्या का हृदय भी व्यथा से भर गया।

"चन्द्रा ने ऐसी करुणा-जनक दृष्टि से उनकी ओर देखा, जैसे उनसे जीवन की भीख माँग रही हो।

"अनन्तय्या ने भी भीतर ही भीतर रोते हुए चन्द्रा की तरफ़ देखा। पर कर्तव्य का ध्यान आते ही उनकी दृष्टि कठोर हो गई, मानो वे उसकी कोई बात सुनने के लिए तैयार न हों।

" चन्द्रा काँप उठी। उसने घायल मन की तरह इधर-उधर दौड़ती हुई अपनी दृष्टि को स्थिर कर, अनन्तय्या की ओर देखा। फिर सँभल कर बोली—'जैसी आपकी इच्छा। आप जाइये, मैं... उन्हें लौटा.....दूँगी.....।" उसके मुँह से एक-एक शब्द इतनी मुश्किल से निकल रहा था, मानो हृदय ही बाहर निकला जा रहा हो। इस वाक्य के पूर्ण होते ही वह मूर्छित होकर गिर पड़ी। उस समय वह दारुण दुःख के दावानल में पड़ी यों छटपटा रही थी, जैसे कोई पंछी आग में पड़कर छटपटाता हो; या कोई पतिंगा काँटों से छिदकर तड़प रहा हो। अनन्तय्या से उसकी यह व्यथा नहीं देखी गई। उनके आँसुओं की धारा, जो बलात् रोकी हुई थी, बह चली और उनकी दृष्टि में धुँधलापन छा गया। वे चन्द्रा के सिरहाने बैठकर धीरे-धीरे उसका सिर सहलाने लगे, जैसे कोई माँ, कठोर दंड से भयभीत अपने शिशु को दुलराती है।

" बेटी, तुम सचमुच ही देवी हो! मुझे क्षमा कर दो... मैं बड़ा चांडाल हूँ!

" उन्होंने रुदन के प्रचण्ड प्रवाह को रोकने की चेष्टा की। पर वे असफल रहे। अन्त में अधीर हो रोते-रोते ही वहाँ से चले गये।

" चन्द्रा, न जाने कितनी देर तक उसी दशा में पड़ी रही। जब वह सचेत हुई तो उसे अपना हृदय मरघट-सा प्रतीत हुआ। कठोर कर्तव्यपालन का दृढ़ संकल्प, उसके मुख पर चिताग्नि की भाँति जल रहा था। थोड़ी देर तक वह धुँधली आँखों से सूने आकाश की ओर एकटक देखती रही। फिर दासी से बोली—

" शयन-कक्ष सजाओ। कोई कमी न रहे। सजावट शानदार हो।

" स्वामिनी, सन्ध्या बीत चली है! आप अपना श्रृंगार नहीं करेंगी?"

" मेरा श्रृंगार! हाँ.................कल कर देना!" चन्द्रा ने आकाश की ओर देखते हुए निराश-स्वर में उत्तर दिया।

" स्वामिनी, अभी आप रो क्यों रही थीं?" दासी ने चन्द्रा का म्लान मुख देखकर कुतूहल से पूछा।

" चन्द्रा ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसने अपने काँपते हुए हाथों से दासी की पीठ सहला दी। यही उसका मौन उत्तर था।

* * * * *

" शयन-कक्ष की सजावट देखकर वेंकटसुब्बय्या जी दंग रह गये। इससे पहले उन्होंने ऐसी भव्य-सजावट नहीं देखी थी। फ़र्श मैली हो जाने के डर से वे सँभल कर चलते हुए, पलंग की ओर बढ़े। उन्होंने देखा कि बिछौने पर आज फिर चमेली के कोमल और सुगन्धित फूल बड़े ही क़रीने से सजाये गये हैं। वे चौंककर पीछे हट गये। सहसा उन्हें प्रथम मिलन की मधु-यामिनी की याद आ गई। उन्होंने उस दिन चन्द्रा को यह समझाया था कि वह अपने आनन्द के लिए इन फूलों का बलिदान न दे। उसने भी यह बात मान ली थी। तब आज फिर ऐसा क्यों हुआ? क्या उसे मनमानी करने में आनन्द मिलता है? यह सोचकर उन्होंने खीजते हुए आवाज़ दी—'चन्द्रा!...........चन्द्रा!'

" चन्द्रा ने कोई उत्तर नहीं दिया। प्रति दिन की भाँति उनकी आवाज़ सुनते ही 'प्रेम-दीवानी' की तरह सामने भी नहीं आई। इससे वेंकटसुब्बय्या जी ज़रा विचार में पड़ गये। पलक मारते ही दौड़कर

आलिंगन में भर लेनेवाली चन्द्रा, आज पुकारने पर भी नहीं आ रही है! मामला क्या है? आज ऐसा क्यों? वे इस तरह अनेक बातें सोचने लगे। सचमुच, उस दिन चन्द्रा के मन में कोई उल्लास नहीं था। सायंकाल से ही उसे कुछ हो गया था। चेहरे पर उदासी छाई हुई थी। वह बिलकुल गुमसुम और निश्चेष्ट थी। उनकी ओर उठी हुई उसकी आँखें, सजल हो बरस पड़ना चाहती थीं। उसका स्वर बोझल हो गया था। यह देखकर वेंकटसुब्बय्या जी विचार में पड़ गये। वे सोचने लगे—'यह सब क्या है? क्या चन्द्रा मुझसे कुछ नाराज़ है? आख़िर कुछ मालूम भी तो हो? मेरे मना करने पर भी आज फिर शय्या पर फूल बिखेरे गये हैं। मगर इस बात का, मुँह फुलाने से क्या सम्बन्ध है? क्या मुझसे कोई ग़लती हो गई है, जो यह इस तरह अप्रसन्न हो? पर मुझे तो ऐसी कोई बात याद नहीं आ रही है। अगर यह भी मान लिया जाय कि मुझसे कोई अपराध हो गया है, तब भी इसका यह मतलब तो नहीं होता कि यह मेरी इच्छा के विरुद्ध कोई काम करे।' इस तरह खूब सोचने पर भी चन्द्रा के रूठने या बिगड़ने का कोई कारण समझ में नहीं आया। अतः उन्होंने फिर चन्द्रा का नाम लेकर पुकारा। तब चन्द्रा आगई, नीर-भरी बदली की तरह धीमी गति से—पर दूर-दूर ही रही!

"चन्द्रा, आज सब बातें कुछ विचित्र-सी लग रही हैं—यह क्या है?"

"ऐसा तो...कुछ भी नहीं" चन्द्रा ने अनमने स्वर में कहा, मानो उसे बोलने की कोई इच्छा न हो।

"आज शय्या पर फिरसे फूल आ गये हैं! याद है, मैंने उस

दिन क्या कहा था ? ”

“ हाँ, याद है, लेकिन इनसे हर्ज़ भी क्या है ! ”

“ ये दबकर नष्ट नहीं हो जायँगे ? जानती हुई भी अनजान बन रही हो ! ”

“ ये दब जायँ, कुम्हला जायँ या नष्ट हो जायँ—इससे आपको क्या ? जिसे अपना ख्याल न हो, उसे फूलों की फ़िक्र ? ”

“ चन्द्रा, जो अब तक अपना गुबार दबाये हुए थी, अब भभक उठी। वेंकटसुब्बय्या जी कुछ भी नहीं समझ पाये। उनकी हालत उस घोड़े के समान थी, जिस पर अकारण ही चाबुक चल गया हो ! चन्द्रा के इस आकस्मिक दुर्व्यवहार से—जानबूझकर दिल दुखाने वाली बातों से—व्यथित होकर उन्होंने पूछा—‘ आज तुम्हें क्या हो गया है चन्द्रा ! तुम्हारी कोई भी बात मेरी समझ में नहीं आ रही है। ’

“ समझ में कैसे आ सकती है ! आप फूल के लिए आँसू बहा सकते हैं, क्या अपने लिए नहीं रो सकते ? ” चन्द्रा का यह दूसरा प्रश्न पहले से भी विचित्र था।

“ वेंकटसुब्बय्या जी चुपचाप खड़े उसकी आँखों से निकलती चिनगारियाँ देखते रहे। उसके मर्मांतक प्रश्नों से दुःखी होकर वे अवाक् रह गये।

“ चन्द्रा अत्यन्त कठोर हो गई थी। उसका बात करने का ढंग ऐसा होगया था, मानो उनके हृदय पर अग्नि-वर्षा कर रही हो। उसने दूसरी तरफ़ देखते हुए फिर कहना शुरू किया—‘ स्वयं अपनी ज़िन्दगी में आग लगाकर फूलों के लिए आँसू बहाने चले हैं ! जीवन की अभिलाषा, कल्पना और साधना को आग में झोंककर, इन मुरझा जाने

वाले फूलों के साथ हमदर्दी दिखा रहे हैं। मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि यह सब नाटक है, झूठा है। आपने एक वेश्या के प्रेम की नक़ली क़ीमत अदा की है.................।"

"चन्द्रा ...... यह क्या बोल रही हो ..... तुम कहीं पागल तो नहीं हो गई? ज़रूर किसी ने तुम्हें बहका दिया है। मैं सच कहता हूँ, चन्द्रा! मेरा प्रेम झूठा नहीं है। इस तरह की बातों से मेरा दिल न जलाओ!" उन्होंने विह्वल होकर कहा।

"झूठा नहीं, धोखे की टट्टी है! आपको जितना प्रेम मुझसे था, क्या उतना ही संगीत से नहीं था? फिर भी आपने उसे गिरवी रख दिया। सरस्वती को दूसरों के अधीन कर, बस, भूल गये। आपके प्रेम का भी इतना ही मोल है। मैं पूछना चाहती हूँ कि अपने राग गिरवी रखते समय आपको दुःख नहीं हुआ? जब आपकी 'कला' वासना की आग में जलने लगी, तब आप क्यों नहीं रोये! अब फूलों के लिए क्यों आँसू बहा रहे हैं! अपने संगीत को तिलांजली देने और हितैषियों की आशाओं को आग लगाने के बाद भी, आप इन फूलों के लिए बिलख रहे हैं! मैं कहती हूँ, इन्हें रौंद डालें—सब कुचल डालें—इन फूलो को...........और मुझे भी .....।" यह कहती हुई वह उनके पैरों पर गिर पड़ी।

"चन्द्रा, वर्षा-कालीन उन्मत्त झरने की तरह उबल पड़ी। वेंकट-सुब्बय्या जी यों स्तब्ध रह गये, मानो उन्हें बिजली छू गई हो। पर दूसरे ही क्षण उन्हें कोई बात याद आ गई। उन्हें ऐसा लगा, मानो उनका सिर फटा जा रहा है। कोई मधुर स्वप्न उनकी आँखों के सामने आकर बुलबुले की तरह अदृश्य हो गया। पलंग पर फैले हुए

फूल, जैसे उन्हें देखकर व्यंग्य से हँसने लगे, उनका उपहास करने लगे। उस समय उन्होंने खंडित-प्रतिमा की तरह ज़मीन पर पड़ी हुई चन्द्रा की ओर देखा। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा फूट निकली।

"तुमने सच कहा, चन्द्रा! मैं वंचक हूँ..................मैंने सरस्वती से भी छल किया...........अब मैं किसी योग्य नहीं रहा...........बिलकुल नहीं...........तुम्हारे प्रेम के भी योग्य नहीं...........चन्द्रा! ....तुम मेरी ज्योति हो...........जीवन ज्योति! अच्छा, अब मैं जाता हूँ; अपना यह काला मुँह फिर कभी नहीं दिखाऊँगा।"

"वेंकटसुब्बय्या जी के हृदय में उथल-पुथल हो रही थी। वे दोनों हाथों से अपना मुँह ढाँपे लड़खड़ाते हुए दरवाज़े की ओर बढ़ने लगे। चन्द्रा उनके पैरों से लिपट गई थी। अपने देवता के चरणों में मुँह छिपाकर, उन्हें आँसुओं से धोते हुए बोली—

"मुझे क्षमा कर दीजिए...........नाथ! मैंने आपका दिल दुखाया है!"

"तुम्हें क्षमा करूँ...........मैं! चन्द्रा, तुमने अन्धे को दृष्टि दी है! तुम मेरे गुरु के समान हो। तुमने मुझे मार्ग दिखाया—मुझ पापी का उद्धार किया। मुझे छोड़ दो चन्द्रा। मैं इस प्रेम के पवित्र मन्दिर को अपनी साँसों से दूषित नहीं करना चाहता...........।"

"जाइये नाथ...........दिग्विजयी कहलाने वाले को एक स्त्री की अधीनता शोभा नहीं देती। किन्तु...........किन्तु...........इस दासी की एक इच्छा है, क्या उसे पूरी करेंगे?"

"कहो, क्या बात है?"

"मैं, जानती हूँ कि...........इस समय आपके हृदय में कितनी व्यथा हो रही है! अतः मुझे वचन दीजिए कि किसी भी हालत

में आप आत्मघात नहीं करेंगे, जब तक आप यह वचन नहीं देंगे तब तक मैं आपके चरण नहीं छोड़ूँगी ।"

"वेंकटसुब्बय्या जी को ऐसा अनुभव हुआ, जैसे किसी ने उनके रोम-रोम में आग लगा दी हो ।

"चन्द्रा !..........कितना चाहती हो मुझे ! अब भी इस तुच्छ व्यक्ति की इतनी चिन्ता ! !"

"नाथ ! मुझे वचन दीजिए..........।"

"मुझ पापी के प्राणों का इतना मोल कि एक देवी मेरे पैरों में पड़कर विनती करे ? नहीं-नहीं ।..........उठो चन्द्रा..........मैं तुम्हारी आज्ञा नहीं ठुकरा सकता.......... ।"

"चन्द्रा उठ खड़ी हुई । फिर बोली.....'जाइये नाथ..........इस बन्धन से दूर..........किन्तु..........जाने से पहले यह आख़िरी.......... !' आगे कुछ न कहकर उसने अपना मुँह बढ़ा दिया । वेंकटसुब्बय्या जी जैसे अपना सम्पूर्ण जीवन उसको भेंट कर रहे हों, उसके अधर चूमकर वहाँ से भाग निकले—बिलकुल पागल की तरह सुध-बुध खोकर—दीवारों और दरवाज़ों से टकराते हुए, गिरते-पड़ते, 'चन्द्रा-चन्द्रा' चिल्लाते हुए ।

"जिस प्रकार वज्रपात के दूसरे ही क्षण मौन का वातावरण छा जाता है, उसी प्रकार उस कक्ष में और उसके जीवन में भी भयंकर मौन छा गया था । उसके शून्य जीवन में रौद्र मौन ताण्डव कर उठा । वह क्षण भर के लिए संज्ञा-हीन-सी खड़ी-खड़ी, सूने द्वार की ओर ताकती रही । फिर कक्ष में चारों ओर दृष्टि डाली । उस समय उसे ऐसा लगा, मानो सब तरफ़ अंधकार ही अन्धकार फैल गया हो ।

"फूलों से सजा हुआ पलंग..........दीपदान करने की मुद्रा में खड़ी काँसे की प्रतिमा..........अगर, चन्दन और धूप की सुगन्ध.......... कहीं दूर हवा में गूँजती हुई 'चन्द्रा-चन्द्रा' की मर्मर ध्वनि—सब मिलकर ऐसा लग रहा था, मानो कोई अग्निचक्र उसके कोमल हृदय पर आ गिरा है। उस प्रबल प्रहार से वह चकराकर लुढ़क पड़ी। जिस प्रकार बारूद के ढेर में चिनगारी पड़ने पर विस्फोट हो जाता है, उसी प्रकार उसके हृदय में हिम-खंड-से जमे हुए भयंकर मौन में विस्फोट हुआ और वह रुदन के रूप में फूट पड़ा।

"वह सिसकियाँ भरकर रोने और तड़पने लगी। पागलों की तरह कभी उस मूर्ति के गले लगकर बिलखती, तो कभी पलंग से लिपटकर। फिर उठकर फ़र्श पर बिछे क़ालीन की तरफ़ बढ़ी और जहाँ-जहाँ उनके चरण-चिन्ह अंकित थे, वहाँ-वहाँ उन पर फूल चढ़ाकर श्रद्धा के साथ उन्हें चूमने लगी। अपने पलंग पर झूलती पुष्प-मालाएँ छिन्न-भिन्न कर अपने शरीर पर डाल ली। फिर भावावेश में आकर द्वार तक दौड़ गई, जैसे उन्हें वापस ले आना चाहती हो और वहाँ हवा में हाथ पसार कर रुक गई, मानो आलिंगन के लिए आतुर हो रही हो। निराश होकर उसने दीवार से अपना सिर पीट लिया। पागल की तरह कमरे में इधर से उधर दौड़ने लगी। अन्त में 'नहीं नाथ नहीं—मैं आपके बिना नहीं जी सकती' चिल्लाती हुई गिर पड़ी, जैसे कोई तारा आसमान से टूट पड़ा हो!

* * * * *

"दूसरे दिन सुबह, सूर्योदय होते-होते चन्द्रासानी की मृत्यु का समाचार फैल गया। इससे सारा नगर शोक-सागर में डूब गया।

चन्द्रा ने हीरे की कनी चाट ली थी । उसकी शव-यात्रा बड़ी धूम-धाम से निकली । अरथी, फूलों से सजाई गई । उस पर खूब हलदी कुंकुम उड़ाया गया, मानो उसकी कीर्ति फैला रहे हों । इस तरह नगरवासी रास्ते में स्नेहाश्रुओं के मोती लुटाते हुए उसकी अरथी श्मशान-भूमि पर ले गये । अगर, चन्दन, धूप और कर्पूर के साथ उसका शव धरती की गोद में लिटाकर उसे फूलों से ढँक दिया गया ।

"चन्द्रा..........अब कहाँ थी चन्द्रा !

"चित्रदुर्ग की जनता उसे खोकर, उस बच्चे की तरह बिलख रही थी, जो अपने प्यारे खिलौने के खो जाने पर बिलखता है ।

"अनन्तय्या ने अपने भानजे वेंकटसुब्बय्या जी को, तीन दिनों तक घर से बाहर नहीं निकलने दिया । वे चार-पाँच दिनों तक बिना कुछ खाये-पिये रोते हुए मूर्ति की तरह बैठे रहे । आख़िर एक दिन उन्होंने कठोर और निराश शब्दों में अनन्तय्या से कहा—'आप घबराएँ नहीं, मामाजी; मैं नहीं मरूँगा । मैंने उस देवी को वचन दिया है ।'

"कैसा वचन ?"

"यही कि मैं अपने प्राणों का दुश्मन नहीं बनूँगा । उसने स्वयं ने मरने की ठानकर, मुझे जीवित रहने की क़ैद में डाल दिया है ।"

"वेंकटसुब्बय्या जी की बात सुनकर अनन्तय्या अपने आँसुओं का वेग न रोक सके । वे बच्चों की तरह रोकर बोले—'वह इस लोक की नहीं थी । वह देवी थी वेंकटसुब्बू ! सिर्फ़ हमे अनुगृहीत करने के लिए यहाँ चली आई थी ।"

...तेरह

पुट्टतायम्मा ने गद्‌गद कंठ से कहानी का अन्त किया—' चन्द्रा, सती की तरह सब की आँखों में चढ़कर स्वर्ग सिधार गई। वह धन्य हो गई, बाबू जी। "

हमारी आँखों में भी आँसू छलक आये थे। चन्द्रा की कहानी सुनने के बाद जब मुझे अपनी स्थिति का भान हुआ, तो ऐसा लगा, मानो मैं स्वप्नलोक से उतरकर किसी गंदी नाली में आ पड़ा हूँ। उस अँधेरी कोठरी में मेरा दम घुट रहा था। बात का सिलसिला अब और आगे नहीं बढ़ाया जा सकता था। मैं चुपचाप बुढ़िया को प्रणाम कर, बाहर चला आया। लक्कव्वा, जो बाहर दरवाज़े के पास बैठी थी, बोली—' बाबूजी, यह क्या? आये और ऐसे ही चल दिये? कम से कम पान-तमाखू के लिए तो एक-दो आने दिये होते! "

मैंने मुड़कर उसकी ओर देखा। कहाँ चन्द्रा और कहाँ उसीकी वंशज यह लक्कव्वा! मुझे उस पर दया आ गई: पर अपने पर क्रोध। मैंने बिना कुछ कहे-सुने ही अपना जेब टटोला और जितनी रेज़गी मिली सब दे डाली।

थोड़ी देर बाद चिन्नप्पा जी भी आ गये। उनका मुख भी म्लान था। वे चुपचाप बीड़ी के कश खींचते हुए चलने लगे। शायद उन्हें

बातें करने की भी इच्छा नहीं हो रही थी। मुझे भी यही अच्छा लगा। इसलिए मैं चुपचाप उनके साथ-साथ पैर बढ़ाने लगा। किन्तु कुछ दूर चलने के बाद मुझे वह मौन अखर उठा। तब मैंने ही पहल की—

"कहानी सुनते समय मैं तो किसी दिव्य-लोक में जा बैठा था।"

"हाँ, पुराने लोगों का जीवन-वृत्तान्त ही कुछ ऐसा होता है। उनकी कहानियाँ सुनने लगें तो ऐसा लगता है, मानो हम कोई सपना देख रहे हैं।

"चन्द्रा और वेंकटसुब्बय्या जी की कहानी सुनने के बाद यह बतलाना मुश्किल हो जाता है कि इन दोनों में कौन श्रेष्ठ था? क्यों ऐसा ही है न? चन्द्रा ने अपने प्रेम के लिए जीवन की बलि चढ़ा दी—कैसी महान् आत्मा थी वह!"

"हाँ, मगर वेंकटसुब्बय्या जी ने भी पूरा-पूरा प्रेम निभाया। जब तक वह थी, तब तक और उसके चल बसने के बाद भी; जीवन-पर्यन्त वे उसीके बने रहे।"

"यानी?"

"यह कुछ न पूछें, इसकी भी एक लम्बी कहानी है। चलो, पहले पेट पूजा करलें और फिर कुछ आराम भी।"

"तो क्यों न हम एक काम करें?"

"क्या?"

"आप यहाँ तक तो आ ही चुके हैं। अतः आज हमारे ही घर ठहर जाइये। दोनों साथ मिलकर भोजन करेंगे। फिर आप उनकी कहानी सुनाकर भले ही अपने गाँव चले जायँ। ठीक है?"

"हाँ, हाँ, मुझे इसमें क्या आपत्ति है? अपना तो यह हाल

है कि जहाँ जा लगे, वहीं किनारा हो जाता है।"

आगे का वृत्तान्त सुनने की उत्कट अभिलाषा से, मैं ज़रा जल्दी से घर पहुँचा। मेरे पहुँचते ही घरवालों ने प्रश्नों की झड़ी लगादी—'कल कहाँ चले गये थे? रात कहाँ रहे......?' आदि। पर मैंने अरुचिपूर्वक उत्तर देते हुए उनसे पीछा छुड़ाया। बाद में भोजन आदि से निवृत्त हो मैं चिन्नप्पा जी के साथ बैठ गया और बोला—'अब सुनाइये कि फिर क्या हुआ?'

उस समय शायद उन्हें नींद आ रही थी। फिर भी बेचारे मेरे उत्साह और आग्रह के कारण कहानी सुनाने बैठ गये।

* * * * *

"पहले, जिस चन्द्रा के प्रेम ने वेंकटसुब्बय्या जी को संगीत से अलग कर दिया था, अब उसी की मौत ने उन्हें फिर से संगीत का मतवाला बना दिया। एक दिन उन्होंने अपने हृदय का सम्पूर्ण प्रेम उस पर लुटा दिया था; अब उसी की स्मृति में अपना हृदय, संगीत पर न्यौछावर कर दिया। कभी-कभी गाते समय उन्हें चन्द्रा की याद आ जाती। उस समय उनकी आँखें भर आतीं, तानपूरा अपने आप हाथ से छूट पड़ता और वे 'चन्द्रा-चन्द्रा' की रट लगाकर बिलख उठते; जैसे कोई बछड़ा अपनी माँ से बिछुड़ जाने पर तड़प उठता है। रात की तनहाई में, चन्द्रा की वियोग-व्यथा दावाग्नि के समान भड़क उठती; और वे व्याकुल होकर जब कोई चारा नहीं देखते तो तानपूरा लेकर गाने बैठ जाते। गाते-गाते जब वे अन्तर्मुखी हो जाते तब उन्हें ऐसा भास होता, मानो चन्द्रा स्वयं आकर उन्हें सहला रही है—उनके धधकते हुए हृदय को शीतल कर रही है। उस समय

वे तानपूरा अपनी छाती से लगाये ही सो जाते।

"यह हालत देखकर उनकी माँ और मामा घबरा गये। उन्हें यह आशंका होने लगी कि अगर यही हाल रहा तो अवश्य ही वे किसी दिन पागल हो जायँगे। इसलिए उन्होंने वेंकटसुब्बय्या जी की शादी करने की ठान ली। लेकिन वेंकटसुब्बय्या जी ने अपने विवाह की बात तभी उड़ा दी थी, जब चन्द्रा जीवित थी। उन्हें समझाने के प्रयत्न में सभी लोग हार चुके थे। इस बार भी वेंकटसुब्बय्या जी ने इनकार करते हुए साफ़ कह दिया—

"चन्द्रा ने, मेरे लिए अपना बलिदान दिया है। अतः अब मेरा जीवन भी उसी के अर्पण है। मैं दुनिया की सभी स्त्रियों को माता के समान समझता हूँ। वह, मरने से पहले, मुझे मरने से रोक गई थी; इसलिए मैं जीवित हूँ—सिर्फ़ उसकी इच्छा पूरी करने के लिए।"

"वेंकटसुब्बय्या जी, चन्द्रा की इच्छा पूरी करने के लिए ही पूरी तरह संगीत-साधना में जुट गये। वह साधना क्या थी, बस, एक घोर तपस्या ही समझ लें। जैसें कोई पंचाग्नि तापनेवाला तापस, कठोर तप करता है, ठीक उसी तरह वे भी विरहाग्नि के बीच बैठकर संगीत का तप करने लगे। इससे उनकी संगीत-साधना दिनों-दिन गहरी होती गई। धीरे-धीरे चन्द्रा की स्मृति का ज्वार हलका पड़कर उसका निराकार प्रेम ही उनके मन-मंदिर में नाद-रूप धारण करने लगा। गाते समय उन्हें ऐसा लगता, मानो चन्द्रा उनके समीप बैठी हुई मुसकरा रही है। कभी-कभी, जब वे संगीत में तल्लीन हो जाते, तो उन्हें ऐसा महसूस होता, मानो चन्द्रा साकार हो उनकी छाती से लगी बैठी है। तब तुरन्त उनका ध्यान भंग हो जाता और वे सोचने लगते कि ऐसा

क्यों हो रहा है! उस समय उन्हें अनन्तय्या की सीख याद आ जाती कि तुम्हारी इच्छा भी एक प्रबल शक्ति है। वह ज्यों-ज्यों तीव्र होती जाती है, त्यों-त्यों परिणामकारी भी बनती जाती है। एक दिन उन्हें अचानक एक नई बात सूझी; जैसे अंधे को आँखें मिल गई हों। अदृश्य प्रेम को फिर से पाने का नया मार्ग निकल आया। उन्हें यह विश्वास हो गया कि स्वर्ग में बैठी चन्द्रा से जा मिलने के लिए यह संगीत ही एक सीढ़ी के समान है। उस दिन से उनकी साधना और भी प्रबल हो उठी। इससे पहले, उनमें ऐसी लगन कभी उत्पन्न नहीं हो सकी थी। अब वे एक-एक स्वर की भी साधना करने लगे। प्रत्येक स्वर, चाहे कोमल हो या तीव्र, राग में शुद्ध रूप से प्रकट होना चाहिये—घंटानाद के 'ओम्कार' की तरह। अतः वे घड़ी-प्रहर ही नहीं, बल्कि कई दिनों तक एक-एक स्वर की साधना में लगे रहते। यह विश्वास हो जाने पर भी कि अब वह स्वर शुद्ध रूप से निकलने लगा है और अपनी पकड़ में आ गया है, तब भी वे उसे बार-बार गाते रहते। जिस प्रकार कोई शिकारी बड़ी सावधानी के साथ चारों ओर जाल बिछाकर हरिण को फाँसता है, उसी प्रकार वे स्वर को पकड़ते। इस तरह जब कोई स्वर, सिद्ध होकर उनके हृदय से निकलता तो उनकी आँखों के सामने कोई अपूर्व ज्योति-सी चमक उठती।

"साधना के साथ-साथ उनकी कल्पना शक्ति भी परिपक्व होती गई। मन के कोमल भाव ही तो राग कहलाते हैं? वे उन भावों को कंठनाद में उतारने लगे। जो भी भाव उठे, उसे नाद या स्वर के रूप में प्रकट होना चाहिए और स्वर से उसी भाव की पूर्ण अभि-

व्यक्ति होनी चाहिए। जिस प्रकार हृदय की संचित वेदना आँसुओं के रूप में प्रकट होती है, मन का आनन्द मन्दहास के रूप में झलक उठता है, उसी प्रकार संगीत को भी—आँसुओं और मन्दहास की तरह—प्रकट होना चाहिए। ताकि कोई अन्धा भी बतला सके कि यह अमुक भाव है। वेंकटसुब्बय्या जी की संगीत-साधना, भाव और नाद के सामंजस्य से नाद-चित्रों के निर्माण-पथ पर अग्रसर होने लगी।

"उस समय उनका संगीत सुननेवाले भी उन्मत्त हो उठते थे। उनके हृदय की धधकती वियोगाग्नि श्रोताओं के मन में भी आग लगा देती और वे कराह उठते। उनके गीत श्रोताओं को झकझोर देते, उनके हृदय में आग लगा देते।

"लोग उनके संगीत को 'अद्‌भुत चमत्कार' कहकर उनकी प्रशंसा करते नहीं थकते। किन्तु वेंकटसुब्बय्या जी को उससे तृप्ति नहीं थी। जिस प्रकार पानी से भरपूर नदी में किसी टीले की चप्पा भर ज़मीन कहीं सूखी रह जाती है, उसी प्रकार उन्हें अपने संगीत में कहीं कोई न्यूनता दिखाई देती।

"एक दिन वे 'तोड़ी' राग गाने में तल्लीन थे। इस राग का भाव बड़ा ही कोमल और प्रभावशाली है। कहा जाता है कि जब विद्यादात्री सरस्वती माता अपनी वीणा में इस राग के सुर छेड़ देती, तो हरिणों का झुण्ड मुग्ध होकर उसे चारों ओर से घेर लेता। उस दिन वेंकटसुब्बय्या जी के मुँह से जिस किसी ने वह राग सुना, उसे भी वैसा ही अनुभव हुआ। गाते-गाते जब वह राग अपनी चरम सीमा पर पहुँचा तब तानपूरा उनके हाथों से छूट गया और आँखों से अश्रुधारा बह चली। वे बैठे-बैठे रोने लगे। उनकी यह अवस्था

देखकर श्रोताओं को इतना साहस भी नहीं हुआ कि सांत्वना के कुछ शब्द ही कहते। वे चुपचाप उठकर चले गये। उस दिन अनन्तय्या भी वहाँ मौजूद थे। सब लोगों के चले जाने पर वे उनके समीप पहुँचे। वेंकटसुब्बय्या जी तानपूरे में मुँह छिपाकर रो रहे थे।

"क्या बात है वेंकटसुब्बू, क्यों रो रहे हो?"

"मामाजी, अब और कितनी साधना करूँ? इतना परिश्रम करने पर भी संगीत की पूर्ण सिद्धि नहीं हो रही है! हाथका कौर, मुँह तक नहीं पहुँच रहा है। जी चाहता है, पत्थर से सिर टकरा कर प्राण दे दूँ।"

"क्यों—क्यों?"

"गाते समय दिल में हज़ारों भाव-तरंगे उठती हैं, पर जब उन्हें प्रकट करने की चेष्टा करता हूँ, तब सिर्फ़ कुछ ही हाथ लगती हैं, बाक़ी की सब छूट जाती हैं। यह कम्बख़्त गला उन्हें प्रकट करने में हार जाता है। उस समय इतना गुस्सा आता है कि ऐसे निकम्मे गले की नसें ही उखाड़ दी जायँ।" वेंकटसुब्बय्या जी ने आवेश में आकर कहा।

"यह कोई ख़ामी नहीं है। सात्विक असंतोष प्रगति का जनक है। गला ज़रा और मँजने पर सब ठीक हो जायगा।"

"मैं गले की ही शिकायत नहीं कर रहा हूँ, मामा जी!"

"तो फिर?"

"मुझे ऐसा लगता है कि राग में भी कुछ कमज़ोरियाँ रह जाती हैं।"

"शायद तुम्हारी साधना में कुछ कसर हो।"

"क्या मतलब ?"

"मतलब यह कि अभी तुम्हारा मन कच्चा है। उसे मैं खूब जानता हूँ, वेंकटसुब्बू! तुम्हें एक सीढ़ी और पार करनी होगी।"

"मैं कुछ समझ नहीं सका मामा जी कि मुझमें कौनसी कमी है!"

"तुम्हारी भावनाएँ अभी तक व्यक्ति तक सीमित हैं। वे व्यक्ति के स्तर से विश्व-स्तर तक नहीं पहुँच सकी हैं। तुम्हें मानवता की सीमा से भी ऊपर, देवत्व तक पहुँचना होगा।"

"आपकी बातें मुझे पहेली जैसी लग रही हैं, मामा जी! ज़रा और साफ़-तौर से समझाइये।"

"समझाने-सुझाने की अवस्था बीत गई, वेंकटसुब्बू! अब तो तुम्हें अपने ही अनुभव से सीखना चाहिए। तुम्हीं ज़रा विचार करोगे तो पता चल जायगा। तुम्हारे हृदय में जो सौन्दर्य है, प्रेम की चाह है, उसे विकसित करो—अणु से पहाड़ बनने दो। तालाब छोड़कर सागर की ओर बढ़ो। मनुष्य की सीमा यह है कि वह ज़्यादा से ज़्यादा एक समय का भोजन दे सकता है। लेकिन भूख को सदैव के लिए मिटा देने वाला 'अमृत' तो भगवान ही पिला सकता है। है कि नहीं?" अनन्तय्या ने कहा। यह सुनकर वेंकटसुब्बय्या जी को किसी अज्ञात वस्तु का धुँधला-सा आभास हुआ।

"अब वेंकटसुब्बय्या जी राग की आराधना के साथ-साथ इस बात पर भी मनन करने लगे कि अणु को बृहत् और व्यक्ति को विश्व बनाने का क्या तात्पर्य है? उन्होंने इसका अर्थ समझकर इसी रास्ते पर चलने के लिए अपना अन्त:करण टटोला। विचारों का मन्थन किया। अपनी मनोकामना की कड़ियाँ सुलझा-सुलझाकर देखा। इस तरह यह

प्रक्रिया कई महीनों तक चलती रही ।

"एक दिन उन्होंने कक्ष के दर्पण में अपना चेहरा देखा । उस दर्पण के पास के अन्य दर्पणों में भी वही प्रतिबिंब झलक रहा था । यह उनके लिए कोई नई बात नहीं थी । वे पहले भी कई बार यह दृश्य देख चुके थे । कई बार क्या, यह उनके प्रतिदिन का अनुभव था । अन्तर केवल इतना ही था कि पहले उसे देखकर भी देखते-समझते नहीं थे । पर उस दिन न जाने कैसे उन्हें वह बात एक अलौकिक घटना-सी प्रतीत हुई । वे बड़े ही आश्चर्य में पड़ गये । दो दर्पणों में उनके दो प्रतिबिम्ब झलक रहे थे ।

"व्यक्ति एक—प्रतिबिम्ब दो !

"अचानक उनकी विचार-लहरी किसी अज्ञात दिशा की ओर मुड़ गई । वे सोचने लगे—'अगर दर्पण दस होते तो प्रतिबिम्ब भी दस होते । 'मैं' एक और प्रतिबिम्ब दस ! परन्तु इन दोनों प्रतिबिम्बों का मूल मैं एक ही हूँ । हमें इस संसार में जो हज़ारों, लाखों और करोड़ों भिन्न-भिन्न स्वरूप दिखाई देते हैं, वे सब एक ही मूल-शक्ति के प्रतिबिम्ब हैं । तो क्या प्रेम के विभिन्न रूप भी एक ही 'मूल प्रेम' के प्रतिबिम्ब हैं ? यदि पहली बात ठीक है तो दूसरी भी ठीक होनी चाहिए । यह सोचते-सोचते उन्हें 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' के सत्य का भान हुआ । इसका बोध होना, उन्हें अपने से ऊपर उठने का सहारा मिल जाने के समान था । अब उन्हें सर्वत्र अपनी प्रेयसी चन्द्रा का ही 'रूप' लास्य करता हुआ दिखाई पड़ा और बिछुड़ा हुआ प्रेम सब में समाया हुआ-सा जान पड़ा; स्फुलिंग फैलकर प्रकाश का समुद्र बन गया ।

“ अब विरह, कामना और व्यथा ने भक्ति का रूप धारण कर लिया। कभी उन्हें भान होता कि विश्व-जननी उन्हें अपनी असीम ममता की गोद में लिये दुलरा रही है; और कभी चन्द्रा के रूप में अपने बाहुपाश में लिये छाती से लगाए आनन्द प्रदान कर रहीं हैं। एक में, वात्सल्यमयी माता का चुम्बन है और दूसरे में प्रेयसी का मधुर आलिंगन! किन्तु दोनों का मूल-स्रोत एक ही है। उनके मस्तिष्क-पटल पर उपनिषद की वह दिव्य वाणी ‘एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति’ प्रतिध्वनित हुई। अज्ञान के मेघ हट गये और सत्य का जगमगाता सूर्य उदित हो गया। वेंकटसुब्बय्या जी के चक्षु सदैव के लिए खुल गये।

“ उस समय सदानन्द बुवा की वह बात ‘नादोपासना से हम उस प्रणव-स्वरूप परमात्मा को पा सकते हैं’ उन्हें याद आ गई। उन्हें अनुभव हुआ कि अब वे संकीर्ण पगडंडी से निकलकर प्रशस्त राजमार्ग पर पहुँच गये हैं। इस विश्वास के उत्पन्न होते ही उनकी साधना में एक नवीन स्फूर्ति का संचार हो गया।

“ उस दिन से वेंकटसुब्बय्या जी की साधना का क्रम बदल गया। संगीत-साधना अब नादोपासना के रूप में परिणित हो गई। प्रत्येक राग एक-एक देवता को प्रसन्न करने का दिव्य मंत्र बन गया। उनके गायन में अद्‌भुत तल्लीनता दिखाई देने लगी। गाते समय न केवल कंठ ही, अपितु शरीर का रोम-रोम वीणा के तारों की तरह निनादित होने लगा। वे नाद-समुद्र की उत्ताल तरंगों में, गहरे डूब जाते। उनके मन को विचित्र शान्ति का अनुभव होने लगा, मानो कड़ी धूप से निकलकर शीतल चाँदनी में आ गये हों; मानो वे उस ज्योत्सना

में घुले जा रहे हों। दसों-दिशाओं में संगीत की मंजुल-ध्वनि गूँज उठती।

"एक दिन अचानक आधी रात के समय उनकी नींद टूट गई। वे उठ बैठे। उस समय उनके मन में एक विचित्र प्रकार की प्यास महसूस हुई। कोई मूक वेदना सताने लगी। किन्तु, वह क्या है—यह साफ़-साफ़ मालूम नहीं हो सका। अतः उठकर उन्होंने पानी पिया। लेकिन न तो उनकी प्यास ही बुझी और न वेदना ही शान्त हुई। कोई अमूर्त आकांक्षा उनके हृदय में चील की तरह चोंच मार रही थी। उस अवस्था में वे निरुपाय हो, चुपचाप बैठ गये। उससे पीछा छुड़ाने की लाख कोशिश करने पर भी वह मूक वेदना, प्रेयसी का रूप धारण कर आँखों के सामने नाचने लगी। उनके मन में इतनी वेदना जाग उठी, मानो उनकी चन्द्रा आज ही उनसे बिछुड़ी हो। उस स्मृति को हटाने की उन्होंने भरसक कोशिश की, जो कोल्हू की तरह उन्हें पेर रही थी। किन्तु इस प्रयत्न से उनके मन की व्यथा कम न होकर और बढ़ती ही गई। बहुत सोचने पर भी कोई उपाय नहीं सूझा। वे उस वेदना में जल उठे। जब यह पीड़ा असह्य हो गई, तो वे सीधे उठकर स्नानागार में गये और ठंडे पानी से खूब नहाये। इससे उनका शरीर तो ज़रूर शीतल हो गया; किन्तु मन की जलन ज़रा भी शान्त नहीं हुई। अतः तानपूरा उठा कर गाने बैठ गये। पर उसके साथ सुर नहीं बैठ रहा था। तानपूरा एक तरफ़ खींचता, तो कंठ दूसरी तरफ़; जैसे, कोई नया बैल जूआ फेंक कर हट जाता है। अन्त में किसी तरह स्वर ठीक बैठ गया पर तब वे इस उलझन में पड़ गये कि कौनसा राग गाया जाय!

किन्तु कुछ सोचने से पहले ही उनके कंठ से अपने आप भैरवी फूट पड़ी ।

" जिस प्रकार फुफकारता हुआ क्रोधित साँप, नाद-मुग्ध होने पर शांत हो जाता है, उसी प्रकार उनका विह्वल मन आलाप छिड़ते ही शान्त हो गया......रथ में जुते हुए उन्मत्त घोड़े किस प्रकार उसे अलग-अलग खींचने लगते हैं और बस में आ जाने पर निश्चित दिशा में आगे बढ़ जाते हैं, ठीक उसी तरह उनके उद्दंड भाव नियंत्रित हो गये। उस समय उन्हें ऐसा लगा, मानो सब कुछ स्वाहा करने के लिए अपने अगणित मुख फैलाकर विकराल रूप धारण करनेवाला अग्निदेव अब शान्त होकर अपने सहज रूप में आ गया हो और उसके मुख पर मंगलमय मन्दहास झलक उठा हो......अपनी क्षुब्ध लहरों से किनारे तोड़कर सब कुछ निगल जाने वाली वर्षाकालीन उन्मत्त सरिता, अब शान्त होकर कल-कल नाद करती हुई मन्दगति से बहने लगी हो।...... हज़ारों बिच्छुओं के एक साथ डंक मारने पर उत्पन्न होनेवाली पीड़ा से भी अधिक वेंकटसुब्बय्या जी के मन की दारुण वेदना, अब आलाप छिड़ने पर शान्त हो गई ।

" गाते-गाते, तल्लीनता अधिक गहरी होती गई। हृदय-चक्षु खुलने लगे। धीरे-धीरे चित्र की भाँति, समस्त भाव, उनके मनकी आँखों के आगे मूर्तिमान हो उठे।

" किन्तु......चारों ओर धुँधलापन फैला हुआ था—कोई भी दृश्य स्पष्ट नहीं दिखाई दे रहा था। सब कुछ सन्ध्याकालीन समुद्र-तरंगों के दृश्य के समान अस्पष्ट लग रहा था। पर कुछ ही क्षणों में उन्हें ऐसा अनुभव हुआ, मानो किसीने दृश्य पर से उस धुँधलेपन का पर्दा

हटा दिया हो।

"अब सब कुछ स्पष्ट दिखाई देने लगा। उस समय उन्हें ऐसा अनुभव हुआ, मानो किसी अज्ञात-दिशा से ओम्कार-नाद की घनी तरंगें उठकर चक्र के समान घूमती हुई उनके वक्षस्थल के चारों ओर फैल रही हैं। फिर देखते ही देखते उस नाद के हृदय से एक स्फुलिंग निकलकर आग का गोला बन गया और चारों तरफ़ उसकी उज्वल दीप्ति फैल गई। उसी प्रकाश-पुंज से एक अलौकिक सौन्दर्य-सम्पन्न, ज्योत्सना की प्रतिमा-सी एक देवी प्रकट हुई। उसके हाथों में श्वेत-कमल के फूल शोभा दे रहे थे। वह श्वेत-वसना-तपस्विनी की भाँति लग रही थी। उसके भक्तिपूरित अध-मुँदे नेत्रों से पवित्र तेज निकल रहा था। उसके मुख से ओम्कार का नाद निकल रहा था, जो उसके चारों ओर का परिवेष्टन बन गया था। सातों स्वर, सप्त-कन्याओं के रूप में उसके पास बैठे थे।.....और कोई भक्त उस देवी के चरणों की शरण में पड़ा हुआ उससे याचना कर रहा था—माँ प्रसन्न होने की कृपा करो! उस समय भक्त की आर्तवाणी सुनकर देवी की पलकें यों ऊपर उठीं, मानो कोई कमल का पुष्प पूर्ण-रूप से खिलने की क्रिया सम्पन्न कर रहा हो। उसके अधरों पर मंद-हास छा गया।.....और भक्त ने अपने सिर पर उसके दायें हाथ का वरद-पुष्प पड़ा हुआ पाया, मानो उसे उस देवी ने अपने कृपा-प्रसाद से कृतार्थ कर दिया हो.....।

"इसके बाद अचानक वेंकटसुब्बय्या जी की प्रज्ञा लौटी। उस समय उन्होंने अपने को गाते हुए नहीं पाया। उनके हाथों से तानपूरा कभी का छूटकर जा गिरा था और वक्षस्थल अश्रुधारा से भीग गया था

" वह स्वप्न भंग हो चुका था। किन्तु स्वप्न में देखी हुई वह प्रतिमा, पूर्ववत् ही उनकी आँखों के सामने नाच रही थी; जैसे, अगरबत्ती के समाप्त हो जाने पर भी कुछ देर तक उसकी सुगन्ध बनी रहती है।

" स्वप्न में देखी हुई वह साकार दिव्य-मूर्ति अस्पष्ट होने पर भी अपरिचित नहीं थी। अतः वे सोचने लगे—'आख़िर कौन थी वह? क्या माँ राजराजेश्वरी थी? हाँ, वही होगी। या कहीं चन्द्रा तो नहीं थी! शायद, वह भी हो सकती है!' उन दोनों में से कौन हो सकती है और कौन नहीं, इस दुविधा में हठात् उनका हृदय पूजागृह में प्रतिष्ठित माता राजराजेश्वरी की प्रतिमा की ओर चला गया। वे फिर सोचने लगे—'हाँ, हाँ, यही थी, बिलकुल यही..........यही मन्दहास से प्रफुल्लित मुखारविन्द था!'

" उनके मन में इस विचार के आते ही उन्हें रोमांच हो गया। खुशी के मारे पागल की तरह चिल्ला उठे—'माँ, तुम इतने दिनों के बाद आज प्रसन्न हुई हो!'

" जब उनकी आँखें खुलीं तब पूरब दिशा में लाली फैल गई थी। उनके हृदय में उल्लास का स्रोत उमड़ रहा था। वे किसी अपूर्व शान्ति का अनुभव कर रहे थे। उनकी आँखों से आनन्दाश्रु झर रहे थे। उन्हें अपने चारों ओर एक विचित्र ज्योति, अखण्ड शान्ति और मधुर हास दिखाई दे रहा था। उठकर पूजा--गृह की ओर दौड़े। वहाँ जाकर देवी राजराजेश्वरी को प्रणाम किया। फिर सिर उठाकर देखा तो वह भीं हर्ष से उनकी ओर ताकती हुई--सी प्रतीत हुई। उस समय वेंकटसुब्बय्या जी के आनन्द की कोई सीमा न रही।

" इस तरह, उस दिन उन्हें भैरवी-राग का प्रसाद प्राप्त हुआ।

लोग कहते हैं कि जब कभी वे उस राग को गाते, तब राजराजेश्वरी देवी उन्हें अपने दर्शन देती। इतना ही नहीं, बल्कि श्रोतागण भी इसका अनुभव करते थे। इसी कारण से वेंकटसुब्बय्या जी "भैरवी वेंकटसुब्बय्या" के नाम से विख्यात हुए। वे साधक से सिद्ध बन गये।

...चौदह

"उसी तरह उनका जीवन बढ़ता गया" यह कहकर चिन्नप्पाजी ने अपनी कहानी समाप्त की। मैं विस्मय से मूक बना बैठा था।

"बाबू जी, अब आप ही बताइये कि संगीत के ऐसे गंभीर साधक आजकल कहाँ हैं? किसमें है इतनी लगन? सब मेरी तरह पेट भरनेवाले जोगी हैं। भला हमारी भी कोई ज़िन्दगी है—न तीन में न तेरह में। बस, मुर्दों की तरह जी रहे हैं। यों समझ लें कि जीना है, इसलिए जी रहे हैं।"

"चिन्नप्पा जी, यदि आप जैसे लोग ही इतने निराश हो जायँ तो फिर औरों के लिए क्या कहें! होना तो यह चाहिए कि आप जैसे दस कलाकार मिलकर संगीत का उद्धार करें। जिस देश में वेंकट-सुब्बय्या जी जैसे संगीतज्ञ हो गये, उसी देश में संगीत की ऐसी दुर्दशा हो; क्या यह विचारणीय स्थिति नहीं है!" चिन्नप्पा जी की दर्दभरी बात सुनकर मैंने कहा।

"अब वह ज़माना नहीं रहा साहब! बेचारे गायकों को ही दोष नहीं दिया जा सकता? मान लीजिए कि आज अगर कोई वेंकटसुब्बय्या जी की तरह एक ही राग के पीछे अपनी ज़िन्दगी लगा दे तो उसकी रोटियों का क्या प्रबन्ध हो? उस ज़माने में बड़े-बड़े महाजन सिर्फ़ रागों

के आधार पर हज़ारों रुपये उधार दे दिया करते थे। क्या अब ऐसी स्थिति है? आज अगर मैं अपने को गिरवी रखना चाहूँ तो भी कहीं से एक पैसा नहीं मिल सकता। लोग 'किसी दूसरे के पास जाओ बाबा' कहकर रवाना कर देंगे। धनवान निन्नानवे के फेर में पड़े हैं और ग़रीब रोटी के पीछे। अब आप ही कहिये कि हम जैसों की क्या पूछ है? इसलिए जब तक हमारी ग़रीबी नहीं मिट जाती, तब तक न तो संगीत का ही उद्धार हो सकता है और न हमारा ही। तब तक यही रोना बना रहेगा।"

"अच्छा, छोड़िए इस बात को। यह तो बताइये कि वेंकट-सुब्बय्या जी ने अपनी जीभ क्यों काट ली थी—इस विषय में आप कुछ जानते हैं?"

"नहीं, मैं नहीं जानता। मैंने सुना है कि तोरेयूर में उनके कोई वंशज रहते हैं। यदि आप उनसे पूछताछ करें तो शायद है कि इस विषय में कुछ पता लग सके।"

"अच्छा, यहाँ इस विषय का जानकार कोई और नहीं है?"

"मेरी दृष्टि में तो यहाँ कोई नहीं है।"

"अच्छा, कोई बात नहीं। आपने मुझ पर बड़ी कृपा की है, चिन्नप्पा जी!"

"इसमें कृपा की क्या बात है! इस बहाने मुझे भी आदरणीय पुरुषों को याद करने का मौक़ा मिल गया। अगर आप ये बातें नहीं पूछते तो क्या पता कब हम उन्हें याद करते! अच्छा, अब मैं चलता हूँ साहब, बहुत देर हो गई है; आज मुझे क्यादिगेरे गाँव जाना है।"

"क्यों, वहाँ क्या काम है?"

"उस गाँव में छः महीने पहले हमने रामलीला की थी। पर अभी तक कम्बख्तों ने एक पैसा भी नहीं दिया। ऐसे ही टालते जा रहे हैं। शायद, जाने पर कुछ हाथ लग जाय। देखा आपने—यह है हमारी ज़िन्दगी, और यह है हमारी इज्ज़त!" चिन्नप्पा जी ने उठते हुए कहा।

मेरे कारण चिन्नप्पा जी का पूरा दिन नष्ट हो गया था। मुझे उन्हीं की बातों से पता चला था कि उनके हाथ बड़े तंग हैं। अतः मैंने उन्हें कुछ रुपये हाथ ख़र्च के लिए देना चाहा। मगर वे तुरन्त बोल उठे—'माफ़ कीजिए साहब, इसकी ज़रूरत नहीं है। मैं महापुरुषों का नाम बेचकर पैसे नहीं कमाता। इससे उनकी शान में बट्टा लगता है। मैं इन्हें छूना भी पसन्द नहीं करता। मेरे लिए इतना ही काफ़ी है कि हम में प्रेम बना रहे।' कहते हुए उन्होंने अपना फटा हुआ कोट पहना और विदा हो गये। जगह-जगह फटी हुई धोती, नंगे पाँव मारे-मारे फिरने से पैरों में पड़ी बिवाई और तेल से वंचित उनके रूखे बाल—यह सब देखकर मेरे दिल में आग-सी लग गई। मैं सोचता ही रह गया कि इस व्यक्ति को इन मुसीबतों से कब छुटकारा मिलेगा? और फिर व्यर्थ की ठंडी आह भरकर चुप हो गया।

वेंकटसुब्बय्या जी के बारे में इतना जान चुकने पर बाक़ी दो-एक बातें जानने की इच्छा बड़ी तीव्र हो उठी। लेकिन उन बातों की जानकारी किससे प्राप्त की जाय? अतीत की बातें किसे याद रहती हैं! अवश्य ही दो-एक व्यक्तियों ने बताया था कि उनके वंशज तोरेयूर में रहते हैं। अतः मैंने यह निश्चय किया कि पहले वहाँ जाकर प्रयत्न किया जाय। सम्भव है उनसे कुछ मालूम हो सके। अन्यथा फिर और

कहीं कोशिश की जायगी। यह सोचकर मैं उस दिन दोपहर को हिरियूर के लिए रवाना हो गया।

तोरेयूर एक छोटा-सा गाँव है, जो हिरियूर और धर्मपुर के बीच में पड़ता है। वहाँ के लिए मोटर-बस की कोई सुविधा नहीं है। दूरी भी इतनी है कि पैदल जाना मुश्किल ही था। सवारी का इन्तज़ाम ज़रूरी हो गया था। क्योंकि मैं कुरुमरड़ी का बनवास और भूख-प्यास अभी तक भूला नहीं था। इसलिए खाने-पीने आदि का पूरा प्रबन्ध कर ही मैं घर से निकला। पहले हिरियूर पहुँचा। वहाँ मेरे कुछ रिश्तेदार हैं। फिर वहाँ से सुबह जल्दी, बैलगाड़ी में बैठकर चल दिया और लगभग दस बजे मैं तोरेयूर पहुँच गया।

वह छोटा-सा गाँव वेदावती नदी के किनारे बसा हुआ है। वहाँ के लोग उस नदी को 'तोरे' के नाम से पुकारते हैं। इसलिए उस गाँव का नाम 'तोरेयूर' पड़ गया है। उनका कहना है कि किसी ज़माने में तोरेयूर बहुत प्रसिद्ध अग्रहार था। कुछ बरसों पहले कोयम्मत्तूर के तमिल-भाषी लोग वहाँ केले की बागवानी करने पहुँच गये थे, जो बाद में वहीं स्थायी रूप से बस गये। इससे तोरेयूर 'छोटा सेलम' * बन गया। हालाँकि अब वह पहले जैसा नहीं रहा। उसका विस्तार काफ़ी घट गया है। फिर भी वह फटेहाल रईसों की तरह, गत वैभव की याद करता हुआ अपना अस्तित्व बचाये हुए है। गाँव के मध्य भाग में राजराजेश्वरी देवी का एक छोटा-सा सुन्दर मन्दिर है। मैं सीधा उसके पुजारी श्रीकंठ शास्त्री जी के यहाँ गया और हिरियूर से

* 'सेलम' केले की पैदावार के लिए बहुत प्रसिद्ध है। इसी विशेषता के कारण तोरेयूर को 'छोटा सेलम' कह दिया गया है

लिया हुआ उनके नाम का पत्र उन्हें दिया।

मेरे वहाँ पहुँचने का उद्देश्य जानकर शास्त्री जी प्रसन्न होते हुए बोले—"महाशय, अपने महापुरुषों के विषय में आपकी इतनी रुचि देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। आज आप जैसे व्यक्ति गिनती के ही मिलेंगे। मुझ से जो कुछ बन सकता है, आपके लिए करूँगा और मुझे जितनी जानकारी है आपको ज़रूर दूँगा। लेकिन इससे पहले आपको एक काम करना होगा।"

"बतलाइये, वह कौनसा काम है?"

"इस सिलसिले में आपको गोविन्दय्या के पास जाना पड़ेगा और वह भी अकेले। मुझे खेद है कि इस मामले में मैं आपके साथ नहीं चल सकूँगा।"

"ये गोविन्दय्या कौन हैं?"

"ये वेंकटसुब्बय्या जी के वंशज हैं। हम दोनों में ज़रा अनबन है। इसलिए मेरा नाम सुनते ही वे नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं।"

"क्यों?"

"आपने यहाँ राजराजेश्वरी का मन्दिर देखा है न? उसे वेंकट-सुब्बय्या जी ने बनवाया था। उसकी पूजा-पाठ का उत्तरदायित्व उन्होंने हमारे वंशजों को सौंपा था। वे मन्दिर के नाम पर कुछ ज़मीन भी कर गये थे। पर गोविन्दय्या ने क्या किया कि जब अपनी ज़मीन-जायदाद उड़ाकर साफ़ कर दी तो मन्दिर की भूमि हड़पने आ गये। इस पर मुक़दमेबाज़ी हुई और उसमें हम जीत गये। बस, तभी से हम दोनों में मनमुटाव हो गया है। इसलिए, उनसे आप अकेले ही मिल आइये। उनके सामने भूलकर भी यह न बतलाना कि आप

को शास्त्री ने भेजा है।"

शास्त्री जी की बात मानकर, स्नानादि से निवृत्त हो, मैं गोविन्दय्या के घर पहुँचा। उन्हें देखते ही न जाने क्यों मेरे मन में घृणा पैदा हो गई। उनसे बात करने की भी इच्छा नहीं रही। निस्सन्देह, वे जाति से ब्राह्मण थे; पर उनके मुख पर ब्राह्मणत्व के कोई लक्षण नहीं थे। उनका व्यक्तित्व और रहन-सहन देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ। उस महान् पुरुष के वंश में, ऐसे क्षुद्र जीव का पैदा होना, क्या कम अफ़सोस की बात थी! लेकिन मैं उनसे मिलने के लिए मजबूर था। अतः अपने मनोभाव दबाकर, मैंने हँसते हुए उन्हें प्रणाम किया और यहाँ तक आने का कारण बतलाया। पर मेरी बात सुनते ही वे मुझ पर पागल कुत्ते की तरह झपट पड़े—

"झूठ क्यों बोलते हो जी! मुझे मेरी लड़की ने सब कुछ बतला दिया है। क्या आप उस शास्त्री के बच्चे से नहीं मिले? वेंकटसुब्बय्या जी की जायदाद दबाकर गुलछर्रे तो वह उड़ाये और मैं यहाँ बैठा-बैठा राह चलतों को उनकी कहानी सुनाया करूँ, क्यों? जाइये, उसीसे पूछ लीजिए।"

"महाशय जी, इतने नाराज़ न हों! सम्भव है आप दोनों में कुछ अनबन हो, लेकिन मेरा उससे क्या सम्बन्ध है? मैं ठहरा एक परदेसी; मुझे इन बातों का क्या पता! मैं तो वेंकटसुब्बय्या जी के विषय में जानने के लिए इतनी दूर से आया हूँ। इस विषय में अगर आप कुछ बतला सकें तो बड़ी कृपा होगी।"

"यह सब ठीक है। लेकिन इससे आपको क्या लाभ होगा?" कहते हुए उन्होंने मेरी ओर इस तरह देखा, मानो इस विषय की

जानकारी प्राप्त करने में मेरा कोई स्वार्थ छिपा हुआ हो। उनकी बातें सुनकर मुझे आश्चर्य के साथ-साथ कुछ घृणा भी हुई।

"मेरा इसमें कोई स्वार्थ नहीं है, महाशय जी! मैं यहाँ इसलिए नहीं आया हूँ कि आप से उनकी जानकारी प्राप्तकर, उसे धन कमाने का साधन बना लूँ। मैंने वेंकटसुब्बय्या जी के बारे में जब कुछ बातें सुनी तो मेरे मन में उनके प्रति श्रद्धा पैदा हुई। इसी लिए यह विचार आया कि क्यों न आपसे उनके विषय में कुछ और जाना जाय? आप उन्हीं के वंशज हैं। आपके भी दर्शन हो जायँगे और उनके विषय में बहुत सी बातें भी मालूम हो जायँगी। बस, इतनी ही बात है।"

"भाई साहब, मैं इन चिकनी-चुपड़ी बातों में आनेवाला नहीं हूँ। आप मुझे उल्लू नहीं बना सकते। अगर इतनी ही बात होती तो पैसे ख़र्च कर आप इधर-उधर नहीं भटकते। आप पागल तो हैं नहीं। आख़िर कुछ फ़ायदे की बात तो ज़रूर है! हाँ, मैं यह नहीं चाहता कि आप सारी आमदनी मुझे ही अकेले को दे दें? जहाँ आपको अच्छा लाभ मिले, वहाँ हम पर भी कुछ कृपा हो जाय अगर यह बात स्वीकार हो तो ठीक है, वरना अपना रास्ता पकड़ें! वेंकटसुब्बय्या जी ने अपनी जीभ क्यों काट ली—इसका कारण उस शास्त्री के बच्चे को क्या, उसके बाप को भी मालूम नहीं है। चाहो तो पूछकर देख लो।"

"तो क्या यह बात आपके अलावा और कोई नहीं जानता?"

"बिलकुल नहीं। इस सम्बन्ध में जो भी काग़ज़-पत्र थे, वे सब हमारे पिता जी के ज़माने में ही चूल्हे की भेंट कर दिये थे।

इसी लिए मेरे अलावा और कोई नहीं जानता। अब बताइये, कहानी सुनना चाहते हैं या नहीं? बेकार जीभ घिसने से क्या फ़ायदा?"

गोविन्दय्या ने मुझसे ऐसे लहज़े में पूछा, मानों अकाल के दिनों में काला-बाज़ार करनेवाला मक्कार बनिया, भूखे को चावल दिखाकर पूछ रहा हो—'जल्दी बताओ, इस भाव ख़रीदना है या मरना है?"

ऐसी हालत में उससे ज़्यादा बात करना बेकार था। मैंने चुपचाप पाँच रुपये का नोट निकालकर उनके सामने रख दिया और फिर कहा—'अब उनका वृत्तान्त सुनाकर कृतार्थ कीजिए!"

उन्होंने चार-पाँच बार वह नोट उलटा-पलटा कर देखा और अंटी में दबा लिया। फिर नास चढ़ाकर वेंकटसुब्बय्या जी के जीभ काट लेने का प्रसंग सुनाने लगे—

...पन्द्रह

"यह उस समय की घटना है, जब वेंकटसुब्बय्या जी अपने जीवन के साठ साल पार कर चुके थे। लोगों का ऐसा कहना है कि उस उम्र में भी उनके समान गाने वाला इस देश में दूसरा कोई गायक नहीं था। उनका संगीत सुनने के लिए, देश के कोने-कोने से संगीत-रसिक, चित्रदुर्ग आया करते थे और वे तृप्त होकर लौटते। हर मंगल और शुक्रवार के दिन देवी के मन्दिर में उनका संगीत होता। जो भी उनका संगीत सुनना चाहता, या तो वह वहाँ जाकर सुन सकता था या फिर उनके घर पर ही, सायंकालीन पूजा के समय। पहले वे नायक के महल में भी संगीत सुनाया करते थे। पर सुना जाता है कि एक बार नायक में और उनमें किसी बात पर मनमुटाव हो गया। तब से उन्होंने महल में जाना छोड़ दिया था। अब तो नायक भी अन्य श्रोताओं की तरह उनका संगीत सुनने के लिए या तो मन्दिर में जाया करते या वेंकटसुब्बय्या जी के घर पर।

"उन्हीं दिनों में चित्रदुर्ग पर एक भयंकर विपत्ति आ पड़ी। श्रीरंगपट्टन के शासक, नवाब हैदरअली वर्षों से दुर्ग पर आँख गड़ाए बैठे थे। उसे हथियाने के लिए उन्होंने अनेक प्रयत्न किये। पर उनमें सफलता नहीं मिली। युद्ध से दुर्ग प्राप्त करना तो क्या, उसकी

एक ईंट भी नहीं हिला सकते थे। जब और कोई रास्ता न रहा तो उन्होंने एक चाल चली—दुर्ग के मुसलमानों को अपनी ओर फोड़ लिया। अन्त में उनके विश्वासघात से क़िले का पतन हो गया। उस समय दुर्ग के अन्तिम शासक मदकरि नायक ने जब देखा कि अब दुर्ग मुसलमानों के हाथों में पड़ने वाला ही है, तब वे रनिवास की समस्त स्त्रियों का वध कर, युद्ध करते-करते काम आ गये। उनके साथ ही चित्रदुर्ग की कहानी भी समाप्त हो गई।

"जब दुर्ग पराधीन हो गया तब हैदर का पुत्र टीपू सुल्तान उसकी देख-भाल करने के लिए वहाँ रहने लगा। यह उसी समय की बात है।

"वेंकटसुब्बय्या जी की देशव्यापी ख्याति टीपू के हरम-सरा तक भी पहुँच चुकी थी। एक दिन अवसर देखकर बेगम ने टीपू से कहा—'हज़रत! सुना है कि दुर्ग में वेंकटसुब्बय्या नाम के कोई नामी गायक रहते हैं और वे भैरवी में कमाल हासिल किये हुए हैं। उनका गाना सुनने की बड़ी इच्छा है। अगर..........।' कहते-कहते संकोच वश रुक गई।

"बस, एक मामूली बात के लिए इतना संकोच करती रही! अच्छा, इसका इन्तज़ाम हो जायगा। हम आज ही बख्शी जी से कह देते हैं।

"मगर सरकार, हमने सुना है कि वे मन्दिरों के अलावा और कहीं नहीं गाते।"

"यह सब दिखावा है, बेगम! क्या मजाल कि हमारे बुलाने पर न आवे! तुम्हारी ख्वाहिश ज़रूर पूरी हो जायगी।" टीपू ने इस बात का वचन दे दिया।

"दूसरे दिन सवेरे ही उसने बख्शी जी से कहा—'हमें वेंकटसुब्बय्या जी से मिलना है, दरबार में बुलवा लें।'

"बख्शी जी ने उसी दिन अरदली भेजकर उन्हें हुक्म सुना दिया। वे भी शीघ्र ही राजमहल में पहुँच गये।

"टीपू अभी-अभी दुर्ग का शासक बना था। उसके मन में अपनी शान दिखाने की भावना काम कर रही थी। पहले जिस स्थान पर चित्रदुर्ग के नायक दशहरे का दरबार किया करते थे, अब उसी स्थान पर हर रोज़ टीपू का दरबार भरने लगा। वहीं लोगों से भेंट की जाती। वेंकटसुब्बय्या जी से भी टीपू वहीं मिला। दरबार का यह नियम था कि मिलनेवाले सुल्तान के सामने तीन बार झुककर सलाम करते और बख्शी जी के द्वारा ही बातचीत होती। पर वेंकटसुब्बय्या जी ने इनमें से किसी प्रथा का पालन नहीं किया। उन्होंने दरबान द्वारा अपने आने की सूचना भिजवा दी और जब बुलावा आया तो सीधे टीपू के सामने पहुँच गये—न कोरनिश, न नज़राना, कुछ भी नहीं; और फिर छूटते ही बोल उठे—'मैंने सुना कि आपने मुझे याद किया है, कहिए क्या आज्ञा है!'

"दरबार के रस्मो रिवाज का उल्लंघन देखकर टीपू के दिल में आग लग गई। उसने भौंहें चढ़ाकर बख्शी जी से कहा—'इन्हें चित्रदुर्ग के सुल्तान की ख्वाहिश के बारे में बतला दीजिए। साथ ही यह भी समझा दीजिए कि यह सुल्तान का दरबार है, गड़रियों का चौपाल नहीं।'

"टीपू के ये दर्पभरे शब्द काँटे की तरह चुभनेवाले थे। इन्हें सुनकर वेंकटसुब्बय्या जी और भी तनकर खड़े हो गये और फिर बोले—

"बख्शी जी, नवाब साहब इस तरह फ़रमा रहे हैं, जैसे हम बेवक़ूफ़ ही हों! अगर आपने हमें शिष्टाचार सिखाने के लिए ही यहाँ बुलाया है, तो कृपया इनसे कह दीजिए कि हमारे पास ऐसी बेकार बातों के लिए समय नहीं है।' कहते हुए चलने के लिए तैयार हो गये।

"दोनों की बातें सुनकर बेचारे बख्शी जी के होश उड़ गये। वे फुसफुसाते हुए बोले—'सुनिए, आप सुल्तान का अपमान कर रहे हैं—ज़रा तहज़ीब से पेश आइये।'

"वेंकटसुब्बय्या जी मुसकराते हुए बोले—'आपके सुल्तान हमारे सामने यह प्रकट करना चाहते हैं कि वे चित्रदुर्ग के शासक हैं और हमें उनका आदर करना चाहिए। लेकिन यह असम्भव है। हमने आज तक केवल भगवान और एक राजा के सामने सिर झुकाना सीखा है। अब चाहे जियें या मरें, लेकिन जिस सिर को हमने नायक के सामने झुकाया है, उसे इनके सामने नहीं झुकाया जा सकता। अच्छा हो कि जिस ऐश्वर्य को आपके सुल्तान ने धोखे से जीता है, उसके दिखावे का ऐसा शौक़ न रखें। विश्वासघात से जीता हुआ राज्य, संभव है कभी उसी विश्वासघात से निकल जाय। आप इन्हें इस बात की ज़रा याद दिला दें।'

"टीपू, स्वभाव से चिड़चिड़ा और शीघ्रकोपी था। यह सुनते ही वह आग बबूला हो गया। परन्तु अपने वचन की बात सोचकर सब्र कर गया। फिर खुद ही यों शान्त स्वर से उनसे बोला, जैसे उसने उनकी बातें सुनी ही न हों—

"वेंकटसुब्बय्या जी; आपको यहाँ दरबार की तहज़ीब सिखाने के मतलब से नहीं बुलवाया था। बल्कि आपको इसलिए याद किया

था कि बेगम साहिबा आपका गाना सुनना चाहती हैं। आप सिर्फ़ इतना ही बतला दें कि कब गा सकेंगे, तो बाक़ी का सारा इन्तज़ाम बख्शी जी कर देंगे।"

"हमारा यह अहोभाग्य है कि रानी साहिबा, हमारा संगीत सुनना चाहती हैं। अगर वे यह बतला देंगी कि वे कब मेरे घर पधार रही हैं, तो हम ही गायन सुनाने का पूरा प्रबन्ध कर देंगे।"

"मगर हम चाहते हैं कि आपका गायन राजमहल में हो।"

"यह असम्भव है।"

"क्यों, इस में कौनसी बात असम्भव है?"

"अभी जो आपने बताई।"

"कौनसी बात? आपका यहाँ गाना या आपके गायन को हमारा सुनना? अगर आपको यह शक हो कि आपका गायन हमारे रनिवास के सुनने योग्य नहीं है तो साफ़-साफ़ बतला दें।"

"हमें अपनी योग्यता पर ज़रा भी सन्देह नहीं है। हाँ, आप अपनी योग्यता की बात ज़रूर कह सकते हैं। हमारा मतलब तो सिर्फ़ इतना ही है कि हम आपके अंतःपुर में नहीं गा सकते।"

"हमारी ख्वाहिश और हमारा हुक्म—इन दोनों का एक ही मतलब होता है, यह आप को समझना चाहिए।"

"यह मैं जानता हूँ।"

"तब भी आप इनकार कर रहे हैं?"

"जी।"

"यह आपकी ढिठाई है। जो हमारा हुक्म नहीं मानता उसे बुरे अंजाम के लिए तैयार रहना चाहिए!"

"अगर सुल्तान नाराज़ न हों तो हम कुछ कहना चाहते हैं। कृपया शान्त चित्त से सुनें। आपने हमारे जैसे सैकड़ों गायकों का संगीत सुना होगा; और जब सुनने की इच्छा हुई होगी, तभी गाने की आज्ञा दी होगी। उन्होंने भी उसे सिर आँखों पर रखकर आपकी इच्छा पूरी की होगी। आपने अभी-अभी फ़रमाया कि हुक्म की तामील न होने पर उसका अंजाम बुरा होगा। यह भी सच है। इसे समय का फेर कहिये या और कुछ। मान लीजिए कि आज हम आपके अधीन हैं। सम्भव है, हमारे शरीर पर आप अपना अधिकार जमा लें। परन्तु मेरी कला न तो किसी की प्रजा है और न किसी की दासी ही। वह मेरे देवता की अमानत है। शायद आपकी दृष्टि में हमारी कला उस क्रीत-दासी की तरह है, जो इच्छानुसार जहाँ बुलावें वहाँ इन्द्रियसुख देने के लिए हाज़िर हो जाय; किन्तु हमारी दृष्टि में ऐसी बात नहीं है। वह हमारी माता है, देवी है। जिस प्रकार आप नमाज़ पढ़ने के लिए मसजिद जाते हैं, उसी प्रकार माता के दर्शन पाने के लिए भक्तों को मन्दिर पर ही जाना पड़ता है। इसलिए आपकी धमकाने की बात तो दूर रही, अगर आप हमें विश्व का साम्राज्य देने का वादा करें तो भी हम अपनी माता को आपके विलास-गृह 'रनिवास' में नहीं नचायँगे। हम ऐसा करें या न करें यह तो बाद की बात है, मगर हम से ऐसा करने के लिए कहना ही अनुचित और अपमान जनक है।"

"टीपू यों भी स्वभाव से आग था। अब वेंकटसुब्बय्या जी की बातों ने आग में घी डालने का काम किया। वह गुस्से से लाल होकर बोला—'आप हमारी और हमारी सल्तनत की तौहीन कर रहे हैं।

शायद आपको यह मालूम नहीं है कि हम उस तौहीन करनेवाली जीभ को ही खिंचवा लेने की ताक़त रखते हैं।"

"सुल्तान की शक्ति का अनुमान हमें भी है। 'ना' कहने पर आप हमारी गरदन कटवा सकते हैं। लेकिन इससे ज्यादा और कुछ नहीं कर सकते।"

"आपको एक और मौक़ा दिया जाता है ताकि आप समझ सकें।"

"जब आग्रह से हमारा सिर नहीं झुकाया जा सका तो क्या आप समझते हैं कि इस तरह की गीदड़ भभकियों से हम पर क़ाबू पा लिया जायगा?— क्या आपने हमें कायर समझ रखा है? हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि संगीत के विषय में हमारी ज़बान एक है, दो नहीं। आगे जैसी आपकी मरज़ी।"

"हम आपको कल तक और सोचने का मौक़ा देते हैं। अगर आप अपना विचार बदल दें तो ठीक है। वरना आपकी जीभ कटवा ली जायगी ताकि हमेशा के लिए आपका गाना ख़तम हो जाय।" फिर बख्शी जी की ओर देखते हुए कहा—"बख्शी जी हमारे हुक्म की तामील हो!"

"हमें सोचने के लिए समय नहीं चाहिए। अगर सुल्तान को मेरी जीभ की ज़रूरत हो, तो ज़रूर ले सकते हैं। अच्छा, अब हमें इजाज़त हो।" यह कहते हुए वेंकटसुब्बय्या जी टीपू की तरफ़ से मुँह फेरकर बाहर चले आये।

"उनकी बातों से तथा इस व्यवहार से टीपू और भभक उठा।

"दोपहर तक दुर्ग में घर-घर यह ख़बर फैल गई। चारों

तरफ़ घबराहट और आतंक का वातावरण छा गया था। वेंकटसुब्बय्या जी से मिलने के लिए झुण्ड के झुण्ड लोग आने लगे। पर उन्हें यह कौन कहे कि आपको ऐसा नहीं करना चाहिए था। किसी में इतनी हिम्मत न थी। अवश्य ही वेंकटसुब्बय्या जी के साथ, उनके तबलची दासप्पा का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्होंने जब यह सुना तो वे घबरा गये। पर तुरन्त ही उनके पास पहुँच कर पूछ बैठे—'आज बड़ी विचित्र बातें सुनने में आ रही हैं, मालिक!'

"कुछ भी नहीं हुआ है, दासप्पा। अब तक मुझ पर माँ की कृपा थी, पर आज वह मेरी परीक्षा लेना चाहती है। बस, और कुछ नहीं।"

"आपकी परीक्षा का सुल्तान के अन्धे शासन से क्या सम्बन्ध हो सकता है?"

"दासप्पा, हम यह कैसे जान सकते हैं कि माँ कब और किस रूप में आकर हमारी परीक्षा लेगी? वह अगर चाहे तो माँ के रूप में आकर हमें दुलरा सकती है, या बच्चे के रूप में आकर हमारी गोद में भी खेल सकती है! इसलिए यह निश्चित है कि वह सुल्तान के रूप में मेरी परीक्षा लेने आई है।" वेंकटसुब्बय्या जी ने निश्चल भाव से कहा।

"भाड़ में जाय वह सुल्तान और उसका शासन। क्या उसे अपनी सत्ता जताने के लिए दूसरा कोई नहीं मिला?"

"नहीं दासप्पा, तुम्हें ऐसी बातें नहीं करनी चाहिए। इस में बेचारे सुल्तान का क्या अपराध है? जो इष्ट-देवी मेरे संगीत की वाणी है, वही अब उसके मुँह से फ़रमान बनकर निकली है।"

"कहाँ की और कैसी इष्ट-देवी! छोड़िये इसे। यह सब उसी म्लेच्छ की नीच बुद्धि है।"

"छि! छि! दासप्पा! ऐसी बातें नहीं करनी चाहिए। जाति से इसका क्या सम्बन्ध? मनुष्य की क्षुद्रता के लिए जाति को दोष देना ठीक नहीं। यह मेरी परीक्षा का समय है; यदि मुझे कसौटी पर कसा जाता है तो क्या हर्ज़ है?"

"यह कैसे हो सकता है? आग से खेलना कोई मामूली बात है क्या? मैंने इतने दिनों तक आपकी सेवा की है। उसके बदले में आपसे कभी कुछ नहीं माँगा है। लेकिन आज मैं आपसे कुछ माँगना चाहता हूँ। इस निवेदन को आप न ठुकराना।

"बताओ, क्या चाहते हो?"

"मैं चाहता हूँ कि आप एक बार—सिर्फ़ एक बार—वहाँ गाने चले जायँ। फिर भले ही वह जहन्नुम में जाय।"

"यह नहीं हो सकता, दासप्पा!"

"वसिष्ठ और विश्वामित्र जैसे ऋषि-मुनियों की तपस्या भी भंग हुई है, तब हमारी क्या बिसात है? आप मेरी बात मानकर एक बार हो आइये।"

"ऐसा हरगिज़ नहीं होगा। क्या अपनी जिह्वा बचाने के लिए मैं माँ को सुल्तान की भोग्या बना दूँ? कभी नहीं। ऐसे बेटे का तो मर जाना ही अच्छा है। यदि माँ की आबरू उसके बेटे के सामने उतरे, तो बताओ फिर इस दुनिया में क्या रह जाता है? भले ही इस शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जायँ; लेकिन मैं ऐसी कोई बात नहीं करूँगा।"

"दासप्पा ने उन्हें हर तरह से समझाया—यहाँ तक कि रोया, गिड़गिड़ाया और गालियाँ तक दीं, पर इसका कोई परिणाम नहीं निकला। वे अपनी ही बात पर अड़े रहे। सिर्फ़ इतना ही बोले —'दासप्पा, आज शाम को पूजा है। तुम ज़रूर आना। अब मैं नहाने जाता हूँ।' कहते हुए अन्दर चले गये।

"उस समय उनके घर में अनन्तय्या के पुत्र और पुत्र-वधू दोनों रहा करते थे। उनके अलावा और कोई सगे-सम्बन्धी नहीं थे। वेंकटसुब्बय्या जी ने अन्दर जाकर वेंकटेश से कहा—'आज नगर में सब को सूचित कर दो कि रात के नौ बजे आरती होगी।' फिर वेंकटेश की पत्नी को सम्बोधित करते हुए बोले—'और बेटी, तुम पूजा की व्यवस्था करो!' इतना कहकर स्नान करने चले गये। बाद में मालूम हुआ कि उस दिन उन्होंने स्नान करने में सौ-डेढ़-सौ घड़े पानी ख़र्च कर डाला था। स्नान से निपटकर सीधे पूजागृह में जा बैठे।

"पहले उन्होंने कुंकुमार्चन किया, फिर सहस्र नाम का पाठ किया और बाद में अष्टोत्तर पूजा की। फिर वेंकटेश से बोले—'भैया, आज आरती तुम उतार देना और जो जाना चाहें उन्हें प्रसाद देकर विदा कर देना। कोई संगीत समाप्ति की प्रतीक्षा न करे। आज गायन-समाप्ति में देर लगेगी।'

"यह समझाने के बाद वे तानपूरा लेकर गाने बैठ गये। सुल्तान से खटपट हो जाने की बात फैल जाने के कारण उस दिन सैकड़ों लोग जमा हो गये थे। आरती हो जाने पर सबने एक-एक कर वेंकटसुब्बय्या जी के चरण छुए, प्रसाद लिया और लौट गये।

किसी को उनसे कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। उस दिन वेंकट–सुब्बय्या जी की मुख-मुद्रा कुछ कठोर-सी हो गई थी। वे एकाग्रता पूर्वक गा रहे थे। उन्हें किसी आने-जानेवाले की क्या, समय तक की भी ख़बर न थी।

"उधर टीपू भी परेशान था—यह सोचकर कि वह नाहक़ आपे से बाहर हो गया। वह एक विचित्र प्रकार की व्यथा का अनुभव करने लगा। जब वह खाने बैठा तो उसे भोजन भी नहीं रुचा। रह-रहकर लोगों पर झल्ला उठता था। उसे किसी से बोलने की भी इच्छा न थी। आख़िर बहाना कर सोने के लिए चला गया। पर नींद उसके पास तक न फटकी। ठंडी हवा के झोंके उसे शूल की तरह चुभने लगे। हृदय की जलन से उसकी आँखें अंगारों जैसी हो रही थीं।

"इससे कुछ ही देर पहले गुप्तचर ने आकर उसे ख़बर दी थी कि कल की सज़ा भोगने के लिए वेंकटसुब्बय्या जी बड़ी धूम-धाम से आज देवी की पूजा कर रहे हैं। सैकड़ों आदमी उनका गायन सुनने के लिए जमा हैं। उस ख़बर से टीपू हैरान था। उसकी आज्ञा सुनकर लोग काँप उठते थे! किन्तु इससे पहले उसने वेंकटसुब्बय्या जी की तरह निर्भय और निश्चिंत रहकर दंड भोगने के लिए तैयार रहनेवाला व्यक्ति नहीं देखा था। इस नई बात ने उसके हृदय में बेचैनी पैदा कर दी थी। वह सोचता ही रह गया कि क्या ऐसे लोग भी होते हैं!

"चित्रदुर्ग का क़िला जीतने के लिए वह निरन्तर सात वर्षों तक घेरा डाले रहा। उस समय उसने वेंकटसुब्बय्या जी के संगीत के बारे में सैकड़ों-हज़ारों बातें सुन रखी थीं। जैसे—उनके गाने लगते ही

पाषाण-प्रतिमाओं की आँखों से आँसू झरना, ज्वरपीड़ितों का ज्वर से मुक्त हो जाना, उन्मत्त हाथी का वश में हो जाना, माता राजराजेश्वरी का उनके सम्मुख आ बैठना, आदि आदि। हालाँकि उन बातों में टीपू ने कभी विश्वास नहीं किया। फिर भी उसके मन में यह कुतूहल ज़रूर बना हुआ था कि वे कैसा गाते हैं! इधर अपनी बेगम से भी उनका संगीत सुनाने का वादा कर चुका था। लेकिन अब......?

"सब की इच्छाएँ मन की मन में ही मिटने जा रही थीं। वह विचार करने लगा—'मैं यहाँ भयंकर वेदना की शर-शय्या पर पड़ा-पड़ा तड़प रहा हूँ और वहाँ वेंकटसुब्बय्या जीवन का अन्तिम गान सुना रहे हैं। अगर आज की रात बीत गई तो फिर न तो कभी उनका संगीत ही सुनने को मिलेगा और न उनके संगीत की विशेषता परखने का मौक़ा ही। क्या सचमुच उनका संगीत इतना भव्य है? आख़िर लोगों की बातों में कहाँ तक सच्चाई है? अगर वह लोगों का झूठा विश्वास साबित हुआ तो? या अगर उनकी बातें बिलकुल सच हों तो? कुछ भी हो, इसकी आज़माइश ज़रूर की जानी चाहिए। पर आज की रात निकल जाने के बाद उन बातों की सच्चाई जानने का मौक़ा कभी नहीं मिल सकेगा। इसलिए......!'

"इस विचार के आते ही टीपू के अपमानित हृदय में जो क्रोध का धुआँ उठ रहा था, अब उसकी तह में छिपी हुई वेंकट-सुब्बय्या जी का गायन सुनने की आकांक्षा और जिज्ञासा जाग उठी। वह सोचने लगा—'जहाँ हज़ारों लोग बैठकर उनका संगीत सुन रहे हैं, वहाँ मैं भी क्यों न सुनूँ? उनके संगीत से मैं अकेला ही क्यों वंचित रह जाऊँ? कम से कम इतना तो मालूम हो ही जायगा कि लोगों

की किंवदन्तियों में कितनी सच्चाई है! लेकिन लोगों का कहना सच निकला तो फिर......?' टीपू ने इस विचार को वहीं दबा दिया।

"उसी समय नौबत-ख़ाने से दूसरे पहर की टकोर सुनाई दी। उसके सुनते ही टीपू, सब विचारों को हटाकर खड़ा हो गया; और अपनी पोशाक पर मामूली सिपाही की वरदी पहनकर एक अंगरक्षक के साथ नगर की ओर चल पड़ा। उस समय उसे यह भय हो रहा था कि कहीं सवेरा न हो जाय, वरना उनके संगीत से सदा के लिए वंचित रह जाना पड़ेगा।

"उसने उस अग्रहार में प्रवेश किया, जहाँ वेंकटसुब्बय्या जी का घर था। प्रवेश करते ही उसे हवा की लहरों पर तैरती हुई, संगीत की मंजुल ध्वनि सुनाई दी। वह उसी दिशा की ओर बढ़ गया, जिस दिशा से संगीत की ध्वनि आ रही थी। इस तरह ध्वनि के सहारे ही वह वेंकटसुब्बय्या जी के घर तक जा पहुँचा। फिर अपने अंगरक्षक को घर के बाहर ही ठहरने का इशारा कर, स्वयं बाहरी दालान में बने एक चबूतरे पर जा खड़ा हुआ, जहाँ अँधेरा फैला हुआ था।

"पूजा हो चुकने पर सब लोग अपने-अपने घर चले गये थे। इसलिए वहाँ गहरा सन्नाटा छाया हुआ था। सिर्फ़ उस निस्तब्ध निशा में तानपूरे की झंकार के साथ मिलकर, वेंकटसुब्बय्या जी का स्वर, गंगा की उर्मियों के समान लास्य कर रहा था। क्षण भर के लिए टीपू ने भी उस स्वर-गंगा में गोता लगाया। उस समय उसे ऐसा लगा, मानो वह किसी ऐन्द्रजालिक चमत्कार के वशीभूत हो रहा है। इससे पहले उसके जीवन में ऐसा संयोग कभी नहीं आया था। उस ध्वनि में से एक विलक्षण और स्वर्गीय रस-माधुर्य निकलकर उसके अन्तःकरण

पर छा गया । टीपू उसमें मग्न हो गया...........।

और भीतर—

" सावन की घनघोर घटाओं के समान गरजती हुई, किसी प्रचण्ड प्रवाह की भाँति घहराती हुई, जल-प्रपात के समान घोष करती हुई, तथा अपने फैले हुए पंखों को स्थिर कर उच्चाकाश में उड़ती हुई चील के समान—स्वर-लहरी फैल रही थी । मानो उस भक्त की वेदना, जिसकी पुकार भगवान ने न सुनी हो, संगीत के रूप में प्रकट हो रही थी । उस समय टीपू को ऐसा लगा, जैसे, अभी-अभी उस की आँखों के सामने कोई चित्र आकर चला गया हो । उस गीत में प्रकट होने वाली विरह-वेदना, उनके हृदय की निराशा का रूप धारणकर फूट पड़ी थी । मानो वह गीत—प्रेम की गहराई में डूबकर स्निग्ध बने क्रोध के समान,—पीड़ा के कारण उमड़े हुए आँसुओं के समान,—मूर्तिमान विश्वास के वज्र-स्तंभ के समान,—निराशा के झंझावात से दोलायमान चंचल आशा-दीप की लौ के समान,—अपने उपास्य देव के दर्शन के लिए व्याकुल हो उठने वाले भक्त के हृदय की आतुरता, कातरता, आसक्ति और विरक्ति की अनन्त भावनाओं के अर्न्तद्वन्द्व के समान,—साकार होकर पवन-चित्र के समान ओझल हो गया हो ।

" टीपू के न चाहने पर भी उसकी आँखें सजल हो उठीं । उसके मनसे क्रोध, कठोरता और प्रतिकार के भाव अपने आप निकल गये, मानो किसी ने जादू कर दिया हो । उनके स्थान पर कोमलता प्रकट हो गई । उसका हृदय भाव-लोक के गंधर्व के समान बन गया । उसका शरीर एक विलक्षण शीतलता का अनुभव करने लगा, मानो उसे कमल-कुंज का सुगन्धित समीर छू गया हो । उसके

चारों तरफ़ अबोध बालकों के मधुर हास के समान प्रकाश फैल गया। उसका हृदय चाँदनी से धुले हुए सफ़ेद संगमरमर के समान निर्मल हो गया। उस समय उसके मन में यह इच्छा हुई कि दौड़कर उस देवता के चरणों पर गिर पड़े और अपनी करनी के लिए उनसे क्षमा माँगे। किन्तु उसे उस रस-वृष्टि को बीच में ही रोक देना अच्छा नहीं लगा। उसने अपने मन में सोचा—'पहले संगीत ख़तम हो जाने दो, उसके बाद......।' वह उसी तरह सुध-बुध खोये सुनता रहा—सुनता ही रहा। प्रातःकालीन मुर्ग़े की बाँग भी उसे नहीं सुनाई पड़ी। वह पाषाण-प्रतिमा की भाँति अविचल खड़ा रहा। वह संगीत एक स्वप्न की भाँति समाप्त हो गया, तब भी वह उसी तरह सुध-बुध खोकर......।

"उसी समय अचानक भीतर से किसी स्त्री का चीत्कार सुनाई दिया। उसे सुनते ही उसकी छाती फट गई।

"वह अर्द्ध-चेतनावस्था में ही यह जाने बिना कि वह क्या कर रहा है, एक ही लात में बंद दरवाज़े तोड़कर अन्दर दौड़ गया। उसे सामने ही एक कमरा मिला, जहाँ से प्रकाश फैल रहा था। उसने उसकी दहलीज़ पर खड़े होकर भीतर झाँका—

"और देखा कि—

"वह पूजा-गृह था। उसमें से केसर, कपूर और फूलों की सुगंध उड़ रही थी। चारों ओर दीप-मालाओं के प्रखर प्रकाश के कारण दिन-सा लग रहा था। आबनूस के बने मण्डप में राजराजेश्वरी देवी की स्वर्ण-मूर्ति प्रतिष्ठित थी, जो प्रकाशपुंज की तरह जगमगा रही थी। उसके दोनों ओर दो विशाल पंचमुखी-दीपक प्रकाश फैला रहे थे। देवी के ठीक सामने वेंकटसुब्बय्या जी बेहोश पड़े हुए थे। उनके मुँह

से फेनयुक्त गरम रक्त बह रहा था । उनसे कुछ ही दूरी पर वेंकटेश की पत्नी गंगा मूर्छित हो, पड़ी हुई थी । दूसरी ओर वेंकटेश अपने हाथ में तानपूरा लिये हुए, आँखें फाड़े, मूर्तिवत् बैठा हुआ था । वेंकटसुब्बय्या जी के हाथ में लहू से सनी हुई कटार अभी तक उसी प्रकार थी । और देवी के चरणों के सम्मुख रखी हुई एक सोने की चमचमाती थाली में पड़ी थी—रक्त-पिण्ड के समान वह कटी हुई जीभ !

" टीपू ने अनेक युद्ध किये थे और उसने पानी की तरह बहता हुआ लहू भी देखा था । किन्तु उस दृश्य को देखकर वह भी काँप उठा । क्षण भर के लिए वह हत-बुद्धि हो विवश बना खड़ा रहा । चाहने पर भी वह बेहोश पड़े वेंकटसुब्बय्या जी का उपचार न कर सका । क्योंकि वह पूजा-गृह में नहीं जा सकता था । पर तत्क्षण उसे अपने अंगरक्षक की याद आई । वह एक ही साँस में बाहर दौड़कर उसके पास आया और उसे अपने निजी हकीम को फ़ौरन बुला लाने का आदेश दिया; इसके बाद वहीं दालान में बैठकर बच्चे की तरह रोने लगा ।

" सवेरे का प्रकाश तेज़ी से फैल रहा था । न जाने कैसे यह ख़बर गाँव में फैल गई थी । देखते-देखते हज़ारों लोग वेंकट-सुब्बय्या जी के दर्शन करने जमा हो गये थे । किसी एक वैद्य ने उनके मुँह में पूजा का कुंकुम मलकर रक्त-स्राव बंद कर दिया । फिर उन्हें पूजा-गृह से उठाकर दालान में लिटा दिया । जब बड़ी देर के बाद वेंकटसुब्बय्या जी को होश आया तब कहीं जाकर टीपू की भी जान में जान आई । उस समय वह बिलकुल भूल गया कि वह

सुल्तान है। वह वेंकटसुब्बय्या जी के चरणों से लिपटकर इस तरह फूट-फूट कर रोने लगा—जैसे कोई अबोध बालक अपने पिता से बिछुड़ जाने पर रोता है। उस समय वेंकटसुब्बय्या जी ने उसके प्रति स्नेह प्रकट किया।

"टीपू ने रोते हुए कहा—'दादा जी, यह आपने क्या कर डाला! कम से कम मुझ पतित को तो अपना इरादा बदलने का समय दिया होता?'

"वेंकटसुब्बय्या जी कैसे उत्तर देते? उन्होंने भीतर से एक पट्टी मँगवाई और उस पर खड़िया से लिखा—'चिन्ता न करो। माँ की ऐसी ही इच्छा थी जो पूर्ण हो गई।'

"दादा जी, आपने सुबह होने का भी इन्तज़ार नहीं किया! ऐसा क्यों? क्या आप इस पापी की धमकी से इतने घबरा गये थे!"

"नहीं, तुम्हारी धमकी से नहीं; मैं स्वयं अपने से डर गया था। इसी लिए.................!"

"यह कैसे?"

"सवेरा होने तक तुम अपनी ज़िद छोड़ते या नहीं, मुझे इसका भय नहीं था। बल्कि भय तो मुझे अपने आप से लग रहा था! यदि मैं जीवन के लोभ से या मानसिक कमज़ोरी से, कहीं अपना विचार बदल बैठता तो क्या उससे माँ का अपमान नहीं होता? इसी लिए मैंने यह क़दम उठाया, ताकि ऐसा अवसर ही न आ सके।"

"टीपू इन बातों को पढ़कर दंग रह गया। इससे उसके मन में वेंकटसुब्बय्या जी के प्रति और भी आदर-भाव बढ़ गया। पर इसके साथ ही उसका विषाद भी और बढ़ गया कि उस अमूल्य

संगीत के विनाश का कारण भी वही है। जिस संगीत को सुनकर दुनिया आनन्दित हुआ करती थी, आज वही उस आनन्द को नष्ट करनेवाला बन गया था। अपनी इस करनी के कारण उसे अपने आप से बड़ी ग्लानि हो गई। अतः उसने पश्चात्ताप की भावना से वेंकटसुब्बय्या जी से कहा—

"दादा जी, मैं ही आपकी बरबादी का कारण हूँ। अब मैं किस तरह दुनिया को अपना मुँह दिखाऊँ?"

"तुम्हें दुःखी होने की आवश्यकता नहीं है। तुम तो एक निमित्त मात्र हो। संभव है, माँ ने मेरे संगीत से संतुष्ट होकर उसे रोक देना ही उचित समझा हो। अन्यथा हम दोनों ऐसा करने के लिए क्यों बाध्य होते? संसार में प्रत्येक वस्तु नश्वर है। यहाँ कुछ भी शाश्वत नहीं है। मनुष्य के जीवन के साथ-साथ उसकी कला भी सीमित है। कभी न कभी उसका भी अन्त तो होता ही है। क्या पता भगवान की यही इच्छा हो कि मेरी कला भी अब समाप्त हो जाय और तुम उसके निमित्त बन जाओ! आज जो कुछ हुआ है उसका मुझे तनिक भी दुःख नहीं है। तुम्हें भी दुःखी होने की आवश्यकता नहीं है।"

"उनका लिखा हुआ उत्तर पढ़कर टीपू के आश्चर्य की कोई सीमा नहीं रही। वह मन ही मन सोचने लगा—'अगर इस हालत में कोई और होता तो वह मुझे कितना दोष देता? ज़रूर मुझ पर लानतें बरसाता या मुझसे बदला लेने पर तुल जाता। मगर इनमें कितनी उदारता है! अपना सब कुछ खो जाने पर भी कितनी शान्ति है। विनाश को भी वरदान समझकर स्वीकार कर लेने वाली विशाल मनोवृत्ति है!' यह सोचकर, वह श्रद्धा से नत मस्तक हो गया। उसने दोनों

हाथों से वेंकटसुब्बय्या जी के चरण पकड़कर प्रार्थना की—

"दादा जी, जिन्होंने आपको देवता समझकर आपकी सेवा की, वे सचमुच ही धन्य हैं। आज मैं हाथ जोड़कर यह प्रार्थना करना चाहता हूँ कि आप मुझे भी अपनी सेवा करने का मौक़ा दें ताकि मैं कृतार्थ हो सकूँ। मैं वादा करता हूँ कि आप जो कुछ चाहेंगे, आपके क़दमों पर चढ़ाऊँगा।"

"ऐसी कौनसी चीज़ है जो माँ ने मुझे नहीं दी है या अब भी माँगने पर नहीं दे सकती है? अब तुम्हीं बताओ कि मैं क्या माँगू? मेरे लिए तुम्हारी देने की इच्छा ही काफ़ी है।"

"ऐसा न करें, दादा जी! कुछ न कुछ ज़रूर स्वीकार करें। वरना मैं यही समझूँगा कि आपने मुझे माफ़ नहीं किया है। अगर और कुछ न चाहें तो एक तिनका ही स्वीकार करलें और आशीर्वाद दें। ताकि मेरा जीवन कृतार्थ हो सके।"

"टीपू की व्याकुलता देखकर वेंकटसुब्बय्या जी ने यह अनुभव किया कि वह सचमुच ही उनकी सेवा कर कृतार्थ होना चाहता है। अतः उनके हृदय में स्नेह उमड़ पड़ा और उनकी आँखें सजल हो गईं। तब उन्होंने लिखकर बताया—'तुम्हारी कुछ देने की प्रबल इच्छा देखकर मैं किस तरह अस्वीकार कर सकता हूँ? लेकिन मैं अपने लिए कुछ नहीं चाहता। हाँ, यदि तुम चाहते ही हो तो इतना कर सकते हो कि मेरे जीवन-काल तक माँ की सेवा निर्बाध रूप से होती रहे।'

"टीपू ने उन्हें राजसी-सम्मान के साथ, उनकी इच्छानुसार यहाँ तोरेयूर भेज दिया। यही उनका जन्म-स्थान है। उन्हें बहुत बड़ी

जागीर दी। राजराजेश्वरी की प्रतिमा का विविध आभूषणों से शृंगार कराया; तथा दशहरे और दुर्गाष्टमी के दिन उसकी विशेष पूजा के लिए आस-पास की सारी भूमि मंदिर को अर्पित कर दी। चित्रदुर्ग जब तक टीपू के अधीन रहा, तब तक वह दुर्गाष्टमी की पूजा के लिए विशेष भेंट भी पहुँचाता रहा।

"वेंकटसुब्बय्या जी दुर्ग से तोरेयूर आ गये और अपने मामा के यहाँ रहने लगे। दान में मिले हुए उस धन से उन्होंने राजराजेश्वरी देवी का मन्दिर बनवाया और पूजा-उत्सव आदि कार्यों के लिए बहुत बड़ी धन-राशि छोड़ गये। वे अपना सम्पूर्ण समय उसी मन्दिर में बिताते। यह समझ लीजिए कि मन्दिर ही उनका आवास बन गया था। वे हमेशा वहीं रहा करते थे।

"उसी मन्दिर में उनकी जीवन-लीला समाप्त हुई—एक दिन प्रातः काल उनका शरीर छूट गया। उनकी मृत्यु के समय जो लोग वहाँ उपस्थित थे, उनका कहना है कि उनकी दिव्यात्मा एक प्रकाश के रूप में उनके शरीर से निकल कर देवी के गले में पड़े हुए हीरक-हार में विलीन हो गई।

...सोलह

गोविन्दय्या ने एक दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए वेंकटसुब्बय्या जी की यह भव्य गाथा समाप्त की। मुझ से कुछ भी कहते नहीं बन रहा था। इसलिए कुछ क्षणों तक मौन बैठे रहने के बाद मैंने उनसे पूछा—"गोविन्दय्या जी, जीभ कट जाने पर अगर टीपू उनके सामने संसार की सारी सम्पत्ति का ढेर लगा देता तब भी उसका क्या मूल्य था? दुनिया तो उनके पवित्र हृदय से निकलने वाले आत्म-संगीत से वंचित हो गई न! यह कितना बड़ा अनर्थ हुआ!"

"अरे वाह! उन्होंने संगीत कब छोड़ दिया था! जब उनका मुँह बेकार हो गया तो उन्होंने नाक से गाना शुरू कर दिया। लोग तो कहते हैं कि उनकी हर साँस संगीत मय हो गई थी। मृत्यु के पूर्व अन्तिम क्षणों तक भी उनकी साँसों से भैरवी राग निकल रहा था।"

मैं यह सुनकर अवाक् रह गया। उस समय मुझे राजहंस सम्बन्धी दंत-कथा याद आ गई। कहा जाता है कि मृत्यु से पूर्व वह जल-धारा में बहता हुआ किसी ऐसे निर्जन वन-प्रदेश में चला जाता है, जहाँ न तो कोई उसे देख ही सके और न पा ही सके; और फिर वहीं गाते-गाते अन्तिम साँस लेता है। मैंने किसी काव्य

में भी ऐसा पढ़ा है । इस आत्म-रूपी-हंस की इहलीला भी उसी प्रकार समाप्त हुई । अहा ! कैसा शानदार अन्त था उनके जीवन का ! वे संगीत के लिए जन्मे, संगीत के लिए जीवित रहे और अन्त में संगीत में ही विलीन हो गये—अपना सारा जीवन ही संगीत-साधना में उत्सर्ग कर दिया ।

गोविन्दय्या जी ने यह दिव्य गाथा सुना कर जो उपकार किया था उसके बदले में उनके प्रति कृतज्ञता प्रकटकर मैं वहाँ से विदा हुआ । इसके बाद मैं श्रीकण्ठ शास्त्री जी के घर पहुँचा और स्नानादि से निवृत्त हो, राजराजेश्वरी का मन्दिर देखने चला गया ।

मन्दिर बिलकुल मामूली आकार-प्रकार का है । उसमें ऐसा कोई कला-सौन्दर्य भी नहीं है, जिसे देखकर दर्शक मुग्ध हो उठे । लेकिन फिर भी ऐसा लगता है कि किसी ज़माने में वह अवश्य ही आकर्षक रहा होगा । उसके चारों ओर लगभग पाँच साढ़े पाँच फुट ऊँची, पत्थर की एक चहारदीवारी बना दी गई है । उस घेरे के अन्दर देवी का मन्दिर बना है । बगल में शिवजी का भी एक मन्दिर है ।

परिक्रमा में पत्थर जड़े हुए हैं । आँगन में पारिजात, बिल्व और कचनार आदि के वृक्ष लगे हैं । पिछवाड़े में एक छोटी सी पुष्करिणी है । गोपुर की चुनाई ईंट और मिट्टी से की गई है तथा उसके समीप ही बहुत से गोल आले बना दिये गये हैं । प्रत्येक आले में देवी के नाना रूप ओर लीला सम्बन्धी भाव दर्शानेवाली मूर्तियाँ सजाई गई हैं । गोपुर पर भी अनेक देवी-देवता विराजमान हैं । भीतर, गर्भगृह में तीन कक्ष हैं, जिनमें दायें-बाँयें गायत्री और दुर्गा

प्रतिष्ठित हैं और मध्य में माता राजराजेश्वरी का विग्रह शोभा दे रहा है।

मन्दिर में जिस आकर्षण का अभाव था, उस की पूर्ति इन कलात्मक मूर्तियों से हो गई थी। ये मानवाकार प्रतिमाएँ देखते ही बनती हैं। विशेषकर राजराजेश्वरी देवी की मूर्ति तो प्रत्येक दर्शनार्थी के हृदय में भक्ति-भाव का संचार करती है।

देवी का पीठ श्रीचक्राकार में बना है। उसकी मूर्ति भी ठीक ध्यान-स्तोत्र के भावानुरूप में गढ़ी गई है। उसे जो भी देखता है, वह यही बोल उठता है—

बालार्कायुत तेजसं त्रिणयनां रक्ताम्बरोल्लासिनीं
नानालङ्कृति राजमान वपुषं बालेन्दुराट् शेखराम्।
हस्तैरिक्षु धनुः सृणी सम शरं पाशं मुदा बिभ्रतीं
श्रीचक्रस्थित सुन्दरीं त्रिजगतामाधारभूतां स्मरेत्॥

श्रीकण्ठ शास्त्री जी ने प्रतिमा दिखलाते हुए मुझे बतलाया—'कहते हैं कि इस मूर्ति का निर्माण वेंकटसुब्बय्या जी ने बड़े चाव के साथ स्वयं की देखरेख में करवाया था। मैंने अनेक स्थानों पर माता राजराजेश्वरी की मूर्तियाँ देखी हैं। किन्तु जो सौन्दर्य इस मूर्ति में है वह अन्यत्र दुर्लभ है।' फिर राजराजेश्वरी के विग्रह के चरणों के पास ही, पीठ पर प्रतिष्ठित एक स्वर्ण-प्रतिमा दिखलाते हुए बोले—'देखिये, यह वही मूर्ति है, जिसके चरणों पर वेंकटसुब्बय्या जी ने अपनी जीभ चढ़ाई थी। उनके घर में इसी की पूजा होती थी।'

मैंने उस मूर्ति को बड़े ध्यान से देखा। मैं रोमांचित हो उठा। उस समय मुझे ऐसा लगा कि आज मेरा जीवन धन्य हो गया है।

मैंने उसे साष्टांग प्रणाम किया ।

शास्त्री जी ने दुर्गा सतशती के श्लोकोच्चार से पूजा एवं आरती की और बाद में चरणामृत तथा प्रसाद दिया ।

पूजा समाप्ति के बाद भी मन्दिर से बाहर निकलने की इच्छा नहीं हो रही थी ।

मैं बहुत देर तक वहीं ठहरा रहा और जब तक वहाँ रहा, मेरा मन काबू में नहीं आया । जिस जगह बैठकर वेंकटसुब्बय्या जी देवी की पूजा किया करते थे, उसी जगह से मैंने देवी को साष्टांग नमस्कार किया । उस शिला के शीतल स्पर्श से मेरा रोम-रोम सिहर उठा वहाँ गूँजनेवाला संगीत-नाद, जो कभी का काल के गाल में समा गया था, अब वह मेरे मस्तिष्क में गूँज उठा । आरती के समय घण्टे से ओम्‌कार की ध्वनि निकल रही थी । मेरा मन भी उसी नाद में डूबता हुआ-सा प्रतीत हुआ । मैं सपने सजाता हुआ मन्दिर से बाहर आया ।

मेरी आँखें फिर उसी मन्दिर पर गड़ गईं । उसे देखकर मेरे मन में एक नया विचार उठा—' यदि वेंकटसुब्बय्या जी का यह मन्दिर वृन्दावन बनकर संगीत के उपासकों का तीर्थ-स्थान हो जाता तो कितना अच्छा होता ! मैंने यह सुन रखा था कि विदेशों में बिठोवन, मोझार्ट और व्याग्नर जैसे श्रेष्ठ संगीतज्ञों की समाधियाँ तीर्थ-स्थली बनी हुई हैं । लेकिन हमारे देश में ऐसी बात कहाँ !

मन्दिर की टूटी-फूटी चहारदीवारी के भीतर एक गधा घुस आया था । उसे देखकर मुझे ऐसा लगा, जैसे वह मेरे इस विचार पर व्यंग्य कर रहा हो ।

श्रीकण्ठ शास्त्री जी के घर भोजन कर मैंने तुरन्त गाड़ी जुतवाई। धूप काफ़ी तेज़ थी। फिर भी मैं तोरेयूर से हिरियूर के लिए अनिच्छा पूर्वक रवाना हो गया। गाड़ी गाँव से निकलकर खेतों की तरफ़ आ निकली थी। उस समय किसी के ज़ोर-ज़ोर से पुकारने की आवाज़ मेरे कानों पर पड़ी। मैंने मुड़कर देखा कि वे गोविन्दय्या जी थे। अपने हाथ में कुछ लिये हुए मेरी ओर दौड़े आ रहे थे। मैंने वहीं गाड़ी रुकवा दी। थोड़ी ही देर में गोविन्दय्या जी मेरे पास आकर बोले—'देखिए, मेरे पास वेंकटसुब्बय्या जी का एक चित्र है।'

यह सुनते ही मुझे इतनी खुशी हुई, मानो सोने की खान मिल गई हो। मैंने अपने काँपते हुए हाथों में वह तस्वीर ली और ऊपर का ढँका हुआ काग़ज़ हटाया।

वह एक लकड़ी की पतली तख़्ती पर बना हुआ पुराना तैल-चित्र था। उसे देखते ही मालूम हो सकता था कि वह बहुत पुराना है। कहीं-कहीं उसे दीमक खा गई थी। उस पर मकड़ी का एक जाला भी लगा हुआ था, जिसे कभी किसी ने पोंछने तक का कष्ट नहीं किया था।

गहरे लाल रंग की पृष्ठभूमि पर बना हुआ वह चित्र, बड़ा सुन्दर था। चमकती हुई आँखें, चौड़ा मुख, घनी भौंहें, उमेठी हुई मूँछें, लम्बी और नुकीली नाक, मूँछों की ओट झलकते हुए होंठ, सिर पर हरे रंग की ज़रीदार पगड़ी, शरीर पर ज़री के बेलबूटों से शोभित सफ़ेद अचकन और उन्हें पद्मासन की मुद्रा में चित्रित उस चित्र में उनका भव्य व्यक्तित्व पूरी तरह प्रकट हो रहा था। सामने पानदान और पार्श्व में एक लड़के को तानपूरा थामे हुए दिखाया गया था।

चित्र के नीचे, प्राचीन कन्नड़ लिपि में लिखा हुआ था—" भैरवी वेंकटसुब्बय्या।"

उस चित्र में वेंकटसुब्बय्या जी के ठीक सामने ही चित्रदुर्ग के नरेश, वीर मदकरि नायक को बैठे हुए चित्रित किया गया था—सिर पर मोतियों का मुकुट, शरीर पर नीला अँगरखा, कमर में कसी हुई कर्नाटकी कटार, अधमुँदी आँखें और उनके वीरासन की मुद्रा का दृश्य बड़ा ही सुन्दर लग रहा था। उनके गलमुच्छे बड़े रोबीले लग रहे थे। पार्श्व में खड़ी एक दासी, उन पर चँवर डुला रही थी। ऊपर छत में फ़ानूस लटक रहा था। वेंकटसुब्बय्या जी और मदकरि नायक के बीच, गहरे लाल रंग की पृष्ठभूमि पर एक सुनहरी रेखा खिंची हुई थी। चित्र सचमुच ही सुन्दर था।

उसे देख चुकने पर मैंने आभार प्रकट करते हुए कहा—'गोविन्दय्या जी, पहले तो आपने उनका वृत्तान्त सुनाकर मेरे कान पवित्र किये; और अब उनका चित्र दिखाकर आँखें भी पवित्र कर दीं! आपने यह चित्र क्या दिखाया, मुझे भगवान के ही दर्शन करा दिये। इसके लिए मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।'

"ऐसा कुछ भी नहीं है, महाशय जी। आप उनका वृत्तान्त सुनने के लिए इतनी दूर से आये हैं—यह सोचकर मुझे ऐसा लगा कि शायद आपको उनके चित्र की भी ज़रूरत होगी। इसलिए इसे भी आपके पास ले आया। घर में रखकर दीमक को खिलादेने की अपेक्षा तो आप जैसे सज्जन को भेंट कर देना ही अच्छा है। कम से कम, आप इसे सँभालकर तो रखेंगे! आप को इसकी आवश्यकता है क्या?"

गोविन्दय्या जी का कथन सुनकर मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। मुझे ऐसा लगा, जैसे कोई सपने में मुझसे पूछ रहा हो। मैं विचार में पड़ गया—'क्या यह व्यक्ति सचमुच मुझे चित्र दे देगा! क्या मैं इतना सौभाग्यशाली हूँ कि इस चित्र को प्राप्त कर सकूँगा!' उस समय मुझे यह नहीं सूझ रहा था कि उन्हें क्या उत्तर दूँ? मैंने चुपचाप सिर हिलाकर अपनी स्वीकृति दी।

"अच्छा तो बताइये, क्या देंगे इसका?"

क़ीमत की बात सुनते ही मुझे इतनी व्यथा हुई, जैसे मेरे हृदय में किसी ने नश्तर लगा दिया हो। उसकी क़ीमत कर सकने की शक्ति मुझमें कहाँ थी!

"आप ही कह दीजिए क्या लेंगे?" मैंने डरते हुए पूछा। मुझे भय लग रहा था कि कहीं सौ–पचास रुपये न माँग बैठे।

"उनका वृत्तान्त सुनाने के लिए आपने पाँच रुपये दिये हैं, तो इसके दस दे दीजिए।"

मैंने अपना जेब टटोला और जो कुछ था उसे बाहर निकालकर गिना। कुल दो रुपये और कुछ पैसे ही निकले।

"देखिए, इस समय तो मेरे पास पूरे पैसे नहीं है। लेकिन बाद में रुपये भेजकर ज़रूर मँगवा लूँगा। तब तक आप इस चित्र को अपने ही पास रखें।"

शायद उन्हें मेरी बात पर विश्वास नहीं हुआ। इसलिए उन्होंने शक की निगाह से मुझे देखा। शायद उन्होंने सोचा होगा कि यह दस रुपये ख़र्च कर चित्र ख़रीदना नहीं चाहता है।

"इस समय आपके पास कितने हैं?"

"सिर्फ़ दो रुपये और कुछ आने ही बचे हुए हैं।"

"लाइये इतने ही दे दीजिए।" कहकर जो कुछ मेरे पास था वही ले लिया और रुपये आने तथा पैसे तक पूरी तरह गिन डाले। इसके बाद फिर मुझसे पूछा—'बस, आपके पास अब और कुछ नहीं है?' मैंने एक बार फिर अपना जेब टटोला तो उसमें से एक पैसा और निकल आया। उन्होंने वह भी ले लिया। फिर बोले—'अच्छा, इतना ही सही। लेकिन यह सुन लीजिए कि यदि यह चित्र लौटाया गया तो आपको वापस पैसे नहीं मिलेंगे। मैं पहले ही साफ़-साफ़ बतला देना चाहता हूँ। समझ गये हैं न आप?' कहते हुए वापस अपने घर की ओर दौड़ते हुए चल दिये। संभव है उन्हें इस भय ने घेर लिया हो कि कहीं उसका मन बदल जाय और वह वापस अपने पैसे माँग बैठे तो क्या हो!

रास्ते में दोनों ओर केले के बाग आ गये थे। हमारी बैलगाड़ी 'गड़गड़' करती चली जा रही थी। बगीचों के दूसरे छोर पर हमारा रास्ता मुड़ गया और तब वह गाँव भी आँखों से ओझल हो गया।

मैंने धुँधले प्रकाश में उस चित्र को बड़े ध्यान से देखा। उस समय मेरा मन छटपटाता हुआ उस चित्र से बोल उठा—'क्या हमारी दृष्टि में आपके महान् जीवन का यही मूल्य रह गया है?'

कहीं से पवन का एक झोंका आया—बिलकुल आह की तरह गरम और बोझिल।

...सत्रह

चित्रदुर्ग पहुँचकर मैं राय साहब से मिला और उन्हें अब तक का पूरा वृत्तान्त कह सुनाया। साथ ही तोरेयूर से मिला हुआ वेंकट-सुब्बय्या जी का चित्र भी उन्हें दिखलाया।

यह वृत्तान्त सुनते-सुनते वे गद्‌गद हो उठे और उनकी आँखों में आनन्दाश्रु छलक आये। फिर कुछ क्षणों तक चुप रहने के बाद मुझसे बोले—'सुब्रमण्यम, अब तक जो कुछ भी तुमने सुना है, उसे एक कहानी के सूत्र में पिरो दो। ताकि तुम्हारी लेखन-कला की क्षमता भी सार्थक हो जाय।'

उनकी इस बात से मैं इतना घबरा गया, मानो मुझे अपने सिर पर कोई पहाड़ उठाने की बात कह दी गई हो। अतः मैंने उनसे कहा—

"राय जी, मुझमें इतनी क्षमता कहाँ है!"

"तुम में क्षमता है या नहीं—इसकी चिन्ता न करो। तुम्हें जो करना है, वह तो सिर्फ़ इतना ही है कि एक बार उनका नाम लेकर लिखने का काम शुरू करदो, बस! फिर उन्हीं की शक्ति तुमसे लिखवा देगी।"

"अच्छी बात है।" कहकर मैं घर चला आया। मेरे दिल

में उस पूरी कहानी का भावोन्मेष अभी बिलकुल ही ताज़ा था। अतः यह सोचकर कि जैसा भी बन जाय—मैं जमकर लिखने बैठ गया।

—और यह उसी का परिणाम है, जिसे आप अभी-अभी पढ़ चुके हैं।

—इस तुच्छ की लेखनी से निकली हुई वेंकटसुब्बय्या जी के भव्य जीवन की दिव्य गाथा।

अगर इसे पढ़ते समय आपकी आँखों से आँसू की एक बूँद भी टपक पड़े, जैसा कि इसे चित्रित करते समय मेरी आँखों से छलक पड़ी थी, तो मैं समझ लूँगा कि यह उस भव्य अतीत के प्रति इस कंगाल वर्तमान की एक श्रद्धांजलि है।

इससे ज्यादा वह हमसे कुछ नहीं चाहता और इससे अधिक उसे देने के लिए हममें क्षमता भी नहीं है।

साधना छापाखाना ६६-१ ५वाँ मैन रोड गांधी नगर बेंगलोर—९

...सत्रह

चित्रदुर्ग पहुँचकर मैं राय साहब से मिला और उन्हें अब तक का पूरा वृत्तान्त कह सुनाया। साथ ही तोरेयूर से मिला हुआ वेंकट-सुब्बय्या जी का चित्र भी उन्हें दिखलाया।

यह वृत्तान्त सुनते-सुनते वे गद्‌गद हो उठे और उनकी आँखों में आनन्दाश्रु छलक आये। फिर कुछ क्षणों तक चुप रहने के बाद मुझसे बोले—'सुब्रमण्यम, अब तक जो कुछ भी तुमने सुना है, उसे एक कहानी के सूत्र में पिरो दो। ताकि तुम्हारी लेखन-कला की क्षमता भी सार्थक हो जाय।'

उनकी इस बात से मैं इतना घबरा गया, मानो मुझे अपने सिर पर कोई पहाड़ उठाने की बात कह दी गई हो। अतः मैंने उनसे कहा—

"राय जी, मुझमें इतनी क्षमता कहाँ है!"

"तुम में क्षमता है या नहीं—इसकी चिन्ता न करो। तुम्हें जो करना है, वह तो सिर्फ़ इतना ही है कि एक बार उनका नाम लेकर लिखने का काम शुरू करदो, बस! फिर उन्हीं की शक्ति तुमसे लिखवा देगी।"

"अच्छी बात है।" कहकर मैं घर चला आया। मेरे दिल

में उस पूरी कहानी का भावोन्मेष अभी बिलकुल ही ताज़ा था। अतः यह सोचकर कि जैसा भी बन जाय—मैं जमकर लिखने बैठ गया।

—और यह उसी का परिणाम है, जिसे आप अभी-अभी पढ़ चुके हैं।

—इस तुच्छ की लेखनी से निकली हुई वेंकटसुब्बय्या जी के भव्य जीवन की दिव्य गाथा।

अगर इसे पढ़ते समय आपकी आँखों से आँसू की एक बूँद भी टपक पड़े, जैसा कि इसे चित्रित करते समय मेरी आँखों से छलक पड़ी थी, तो मैं समझ लूँगा कि यह उस भव्य अतीत के प्रति इस कंगाल वर्तमान की एक श्रद्धांजलि है।

इससे ज्यादा वह हमसे कुछ नहीं चाहता और इससे अधिक उसे देने के लिए हममें क्षमता भी नहीं है।

साधना छापखाना ६६-१ ५ वाँ मैन रोड गांधी नगर बेंगलोर—९

इस किताब में..........कुछ तथ्य, कुछ चित्र

प्रखर प्रकाश की एक किरण का स्वतंत्र विचरण, निर्बाध प्रगति और मंगल अस्तित्व के विरुद्ध धूसरित वर्षा, मार्ग में अवरोध खड़ा करती है। किंतु वह किरण जब न रुक सकी और उसे भेदकर आगे बढ़ी तो सतरंगी धाराओं में फूटकर इन्द्रधनुष के रूप में बदल गई; मानो आकाश पर चढ़ने के लिए कोई पुल तैयार हो गया हो। ....और तब हमारी समझ में आया कि वह किरण और कुछ नहीं, इन्हीं सप्त-रंगों का सामूहिक रूप था।

इसी कल्पना का एक दूसरा पक्ष यह है कि इन सप्तवर्णों का बृहत् स्वरूप जिस लक्ष्य को न साध सका, उसे साधने में वह किरण सफल हो गई, जो उन्हीं रंगों के मेल से बनी थी।

और यह प्रकाश की किरण और कुछ नहीं, सिर्फ़ ज्ञान का ही दूसरा रूप है।

इस उपन्यास में आपको इसके चरित्र नायक वेंकटसुब्बय्या का वह महान् व्यक्तित्व मिलेगा, जो न केवल ज्ञान का पर्याय बनकर ही प्रकट हुआ है, बल्कि ज्ञान का मूर्त रूप बनकर चमक रहा है। इस के साथ ही मिलेगा आपको टीपू और मदकरि नायक आदि का व्यक्तित्व—बरसाती नाले के समान, कीचड़ बहाकर ले आनेवाला—ज्ञान के विकास में रोड़ा अटकानेवाला।

एक ओर ज्ञान के मूर्त रूप वेंकटसुब्बय्या में विद्यमान आंतरिक अदृश्य शक्तियों का एक महान् स्वरूप है और दूसरी ओर ऐसे व्यक्तियों का गर्व है, जो उनके मार्ग में यह समझकर विघ्न उपस्थित करते हैं कि आख़िर यह अकेला ही तो है—इसकी शक्ति ही कितनी

है ? किंतु होता यह है कि वेंकटसुब्बय्या की शक्ति उनके गर्व को चकनाचूर कर देती है और उन विघ्नकारियों को मिलता है केवल पराजय का पश्चात्ताप।

यहीं एक दूसरा चित्र भी सामने आता है—ऐसा चित्र जो समाज के मरणासन्न विचित्र तत्वों के प्रतिनिधियों का है। चिन्नप्पा और गोविन्दय्या आदि ऐसे ही व्यक्ति हैं। ये ऐसे व्यक्ति हैं जो दासता और अज्ञान पर वज्र बनकर टूट पड़नेवाले और अपनी हुंकार मात्र से सबको कँपा देनेवालों के वंशज हैं। किंतु इन में इतना भी साहस नहीं रह गया है कि वे अवांछनीय तत्वों के विरुद्ध कानाफूसी ही कर सकें और यह मानने लग जायँ कि कोई व्यक्ति विशेष ही अपनी शक्ति या सामर्थ्य से ज्ञान का विकास कर सकता है!

इस तरह पूरा उपन्यास पढ़ चुकने के बाद जो चीज़ उभरकर सामने आ जाती है, वह है—हमारी अधोगति का चित्र। इसके साथ ही वेंकटसुब्बय्या का वह चित्र भी जुड़ा हुआ है, जो—स्वतंत्रता का हननकर अन्धकार फैलानेवाली—दुष्ट शक्तियों को कुचलकर दहाड़ते हुए आगे बढ़ने का साहस करते हैं।

इतना निस्संदेह कहा जा सकता है कि बुद्धिजीवी वर्ग यदि वेंकट-सुब्बय्या के जीवन से कुछ भी प्रेरणा पा सका तो उसके साथ भी गर्जन करते हुए क़दम मिलाकर चलनेवालों की कमी नहीं रह सकती। पॉल राब्सन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। किसी भी कृति की सार्थकता इस बात में है कि वह उच्च भावनाएँ प्रतिबिंबित करे। यदि इस उपन्यास से ऐसा हो सका तो इसके प्रकाशन का कार्य सार्थक माना जायगा।

एम० एस० श्रीकंठय्या



लेखक के सम्बन्ध में —

दो करोड़ जनता का प्रान्त 'कर्नाटक', अपने जिन चोटी के साहित्यकारों पर अभिमान कर सकता है, उनमें कन्नड़ साहित्यकार श्री त. रा. सु. का स्थान प्रथम पंक्ति में है। आप अब तक ३० से अधिक उपन्यास, अनेक कहानियाँ और आलोचनात्मक लेख लिख चुके हैं। आपने अनेक साहित्यकारों की जीवनियाँ जिस आलोचनात्मक ढंग से सरल रेखा-चित्रों में प्रस्तुत की हैं, वे अनूठी कृतियाँ हैं। आप एक शैलीकार के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। मौलिक सूझ, गहन चिन्तन, तीव्र अनुभूति, मार्मिक अभिव्यक्ति, सजीव चित्रण, मुग्ध करदेनेवाली शैली और जादू के-से वातावरण का निर्माण,—आपकी विशेषता है। आपकी कृतियों में कर्नाटक का जीवन यथावत् प्रकट होता है।......

*

अर्चना प्रकाशन मन्दिर, बेंगलोर-२